सन्त-वाणी

भाग-५ (क)

(केसेट सं० २३ से २७)

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन

सन्त-वाणी

भाग-५ (क)

(केसेट सं० २३ से २७)

१-६-००३

मानव-सेवा-संघ प्रकाशन

वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०

प्रकाशक :

मानव-सेवा-संघ,

वृन्दावन (मथुरा)

पिन—२८११२१

सर्वाधिकारी प्रकाशक :

द्वितीय संस्करण : ४,००० प्रतियाँ

मूल्य : ५)५० पाँच रुपये पचास पैसे

मुद्रक :

ब्रज विहारी लाल शर्मा, बी.एस-सी., एल-एल., बी.

विद्यालय प्रेस, केशीघाट, वृन्दावन २८११२१

फोन:—(१०५६५) ४४२५७१

सन्त-वाणी

भाग-५ (क)

(केसेट सं० २३ से २७)

—: निवेदन :—

१. सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है।

२. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।

३. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।

४. इस वाणी के आदर में संत का आदर है।

५. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

—मानव-सेवा-संघ

अनुक्रमणिका

|| ॐ ||

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहेतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायँ

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

भूमिका

श्रीमहाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, सन्त प्रेमी, संघ प्रेमी और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि सन्तवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्रीस्वामी जी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमीजनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकौर्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यतः प्रवचनों को टेप रिकौडिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की *Arranged Recording* कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा *Record* कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अन-मोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकौर्डेड प्रवचनों के *Cassets* तैयार कराये गये।

प्रथम बार बारह कैसेट्स का प्रथम सैट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सैट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गई। मानव जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभिव्यक्ति श्रीमहाराज जी की ही प्रेम पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमी जनों के हृद्तन्त्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य आज श्री महाराज जी के साकार

विग्रह के लुप्त होजाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकोर्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि क़ैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ़ हैं कि उनका अध्यनन-मनन, पठन-पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग प्रेमी टेप रिकौंडिग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे सैट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग-२ प्रथम सैट के कैसेट्स सं० १ से ६ तक के प्रवचन, सन्तवाणी भाग-३ में कैसेट्स सं० ७ से १२ तक के प्रवचन, तथा संतवाणी भाग-४ में द्वितीय सैट के कैसेट्स सं.१३ मे २२ तक के प्रवचन प्रकाशित होचुके हैं। प्रस्तुत संग्रह सन्तवाणी भाग-५(क)में तृतीय सैट के कैसेट्स सं. २३ से २७ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। सन्तवाणी माला का यह पांचवाँ पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन-मनन करना चाहें, उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का पांचवां पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ—

विनीता,

देवकी

वृन्दावन,

श्री कृष्ण जमाष्टमी सं० २०४३

२७ अगस्त, १९८६

सन्तवाणी-भाग-५(क)

परिचय :

सन्त एवं भगवन्त के नाते, संघ एवं मानवता के नाते,
मेरे आत्मीय प्रिय श्रोतागण !

सन्त-वाणी का तृतीय टेप अंकित संकलन आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुय मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। प्रथम एवं द्वितीय संकलन का आपने वड़े ही आदर, प्रेम एवं उत्साह के साथ स्वागत किया तथा बड़ी ही संजीदगी के साथ उनका उपयोग कर रहे हैं। मानव सेवा-संघ की ओर से साधक-मात्र की सेवा में यह एक बहुत ही उपादेय रचनात्मक योजना सिद्ध हुई है।

मानव का व्यक्तित्व सृष्टि-कर्त्ता की विलक्षण रचना है। शरीरों को लेकर संसार में रहना और स्वयं अविनाशी से अभिन्न होना–ऐसा जटिल प्रोग्राम है मानव-जीवन का, कि जिसके मध्य अनेकानेक समस्यायें खड़ी हो जाती हैं। मनुष्य से देखे हुये संसार का सहारा छोड़ा नहीं जाता तथा अनदेखे परमात्मा में विकल्प-रहित विश्वास किया नहीं जाता। नित्य और अनित्य के आकर्षणों के द्वन्द्व में फँसा हुआ अपनी दुर्बलताओं का निर्वाह करते हुए सत्य को पाने के नाम पर व्यक्ति न जाने क्या-क्या प्रयास करता रहता है। बड़ी दयनीय दशा है। सीमित अहम्-भाव के द्वारा स्वीकृत मत, पन्थ, सम्प्रदाय मजहब एवं परम्पराओं की सीमाओं में आबद्ध व्यक्ति अपने ही में विद्यमान नित्यत्व, सातत्य, अमरत्व एवं मधुरत्व को जान ही नहीं पाता, मान ही नहीं पाता, उससे

अभिन्न होने का सीधा-सच्चा मार्ग पकड़ कर चल ही नहीं पाता।

मानव-जीवन की सभी समस्याओं के समाधान का सच्चा-सीधा मार्ग प्रस्तुत करने के लिये अति-सत्यदर्शी सन्त ने समाधिष्ठ होकर स्वयं-प्रकाश्य का प्रकाश पाया। उसी आधार पर मानव-मात्र के कल्याण का सर्वमान्य मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। आप सभी उससे परिचित हैं।

यह सर्वहितकारी जीवन-प्रणाली अपने मौलिक रूप में सुरक्षित रहे और सत्संग प्रेमी उसी को आधार बनाकर सत्संग की गोष्ठी चलायें, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये टेप अंकित सन्त-वाणी के सैट्स बनाकर आपकी सेवा में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

मजहब एवं सम्प्रदाय की सीमाओं से निरपेक्ष, व्यक्तिगत रूढ़ियों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त इसी जीवन-प्रणाली का प्रतीक जो मानव-सेवा-संघ है, उसके प्रमियों, साधकों एवं सदस्यों की सेवा में मैंने यह निवेदन किया है कि साधन-काल में साधक सत्संग की गोष्ठियों में विचार-विमर्श के समय अपनी-अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं आदि को शामिल करने लग जायँ,तो मानवसेवा-संघ की व्यापकता सीमित हो जायेगी। इस कारण विचार-गोष्ठी में जीवन विवेचन का आधार सन्त-वाणी को ही रखा जाय। श्रीमहाराजजी के वचन *directly* पहले हम लोग सुनें, फिर उसके प्रकाश में विवेचन करें तो उत्तम होगा। मानव-जीवन के मौलिक सत्य के प्रकाशन की शैली में, भाषा में, शब्द-चयन में, सिद्धान्त और साधन प्रणाली के प्रतिपादन में, कहीं भी श्रीमहाराज जी ने एकदेशीयता का स्पर्श नहीं होने दिया। साधक-मात्र के लिये सब कुछ किया। स्वयं अहम्-शून्य शरणापन्न होकर व्यक्तिगत बातों

की कहीं गन्ध नहीं आने दी। उनकी उन्मुक्त ध्वनि अभी भी हमारे कानों में गूंज रही है ·········"मैं ईश्वरवादी हूँ, परन्तु ईश्वरवाद का प्रचारक नहीं हूँ।"

उनके द्वारा प्रतिपादित क्रान्तिकारी सर्वहितकारी जीवन-प्रणाली को उसके शुद्ध रूप में सुरक्षित रखना हमारा परम धर्म है। हमारे इस निवेदन को सभी आत्मीयजनों ने, संघ के सभी शाखा-संचालकों, सदस्यों एवं सत्संग प्रेमियों ने सहर्ष स्वीकार किया है और बड़ी प्रसन्नता तथा उत्साह पूर्वक श्री महाराज जी की वाणी को ही आधार बनाकर अपने जीवन एवं समाज में मानवता जगाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। उनकी निष्ठा से उत्साहित होकर अब यह सन्त-वाणी का तृतीय संकलन तैयार किया गया है। आशा है कि इसे भी आप प्रेम पूर्वक अपनायेंगे और लाभान्वित होंगे।

इस प्रकार से चेष्टा यह है कि श्री महाराज जी ने जो जीवन-ज्योति जलायी है वह अखण्ड प्रज्ज्वलित रहे। अपना जीवन-रस उसमें ढाल कर उसके उजाले को हम प्रज्ज्वलित रखें। अज्ञानान्धकार में भटका हुआ मानव-समाज उस प्रकाश में मानवता के पथ पर आगे बढ़ता रहे।

इसी सद्भावना के साथ।

विनीता :

देवकी

२३

सत्संग का अर्थ है—"है" का संग, अर्थात् जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग।

सत्संग के लिए आवश्यक कार्य को पूरा करना और अनावश्यक कार्य का त्याग करना अनिवार्य है।

श्रम-रहित होने पर जो आगे पीछे का, भुक्त-अभुक्त का चिन्तन होता है, उससे साधक को असहयोग करना चाहिये। किसी अन्य चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन का नाश नहीं होता। अतः अचिन्त्य हो जाना चाहिये।

साधक को "करने" और "होने" से असंग हो जाने पर जो "है" उसमें अविचल आस्था हो जायेगी, श्रद्धा हो जायेगी।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, इनकी ममता व कामना बनाये रखना सबसे भारी भूल है। इन्हीं से सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है—"है" से विमख होना।

———

२३

अ

प्रवचन :

सत्संग का जो वास्तविकरूप है उस पर विचार करने से मालूम होता है कि सत्संग का अर्थ है–"है" का संग, अर्थात् जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग–सत का संग। तो "है" का संग करने के लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है। और श्रम-रहित होने के लिये आवश्यक कार्य को पूरा करना, अनावश्यक कार्य का त्याग करना—यह आवश्यक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भाई-बहन कार्य के आरम्भ से पूर्व और कार्य के अन्त में बड़ी ही सुगमतापूर्वक "सत्संग" कर सकते हैं। आप कहेंगे कि जब हम श्रम-रहित होते हैं, तब आगे-पीछे का, भुक्त-अभुक्त का, किये हुए का, देखे हुए का चिन्तन होने लगता है। यह बात ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह है कि जो प्रभाव आपके जीवन में ठहरा हुआ था, वह उत्पन्न होता है, अथवा यों कहो कि प्रकट होता है नाश होने के लिये। साधक से भूल क्या होती है कि उस उत्पन्न हुए चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा दबाने का, मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु परिणाम यह होता है कि वह किया हुआ चिन्तन भी ठहर जाता है और उससे पूर्व जो किया हुआ है, वह भी होता रहता है। तो दो प्रकार का चिन्तन होता रहता है। एक तो वह जिसे हम करते हैं और एक वह जो

किये हुए का प्रभाव है। यह समस्या हल नहीं होती। अनेक बार साधक प्रयत्न करता है कि सार्थक-चिन्तन से व्यर्थ-चिन्तन का नाश कर दिया जाय, परन्तु व्यर्थ-चिन्तन नाश नहीं होता।

इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है अचिन्त्य होने से, अर्थात् किसी प्रकार का चिन्तन न करने से। अचिन्त्य होने पर हमारे न चाहते हुए भी जो चिन्तन हो रहा है, उसका प्रभाव स्वीकार न करें, अर्थात् उससे असहयोग रखें। असहयोग का अर्थ विरोध नहीं है। असहयोग का अर्थ है—समर्थन न करना, सहयोग न देना। जो हमारे बिना करे चिन्तन होने लगा—भूतकाल के किये के, देखे हुए के, भुक्त-अभुक्त के प्रभाव से—उनको देखें अथवा वह स्वयं दिखाई देगा। जो हो रहा है उसका ज्ञान होता है न ! वह स्वयं दिखाई देगा। तो जब उसका ज्ञान आपको हो कि आगे-पीछे का चिन्तन हो रहा है, अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति आदि का चिन्तन हो रहा है, अथवा उसका चिन्तन हो रहा है जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, तो उससे जब आप असहयोग करेंगे, तब उसका प्रभाव अपने पर स्वीकार नहीं करेंगे, अर्थात् न भयभीत होंगे और न उसमें सुख लेने का प्रयत्न करेंगे। आपके असहयोग करने से वह होने वाला चिन्तन निर्जीव हो जायेगा। और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद स्वयं चिन्तन-रहित स्थिति आने लगेगी। परन्तु बड़ी ही सावधानीपूर्वक उस स्थिति में भी रमण नहीं करना चाहिए। आप विचार करके देखें, तो आपको यह स्पष्ट मालूम होगा कि जो हो रहा है उसका आश्रय और जो कर रहे हैं उसका आश्रय जब आप स्वीकार कर लेते हैं, तो जो "है" उसमें आस्था नहीं होती, उसमें प्रियता नहीं होती, उससे योग नहीं होता, उसका बोध नहीं होता। और

जब "है" का बोध नहीं होता, "है" में आस्था नहीं होती, "है" के साथ योग नहीं होता, तब देहाभिमान पुष्ट होता है, मजबूत होता है।

इसलिये किये हुए का प्रभाव और जो हो रहा है, उसका प्रभाव अपने में न हो। उसको स्वीकार न करें। किये हुए का प्रभाव मिटाने के लिये सबसे पहले, जो नहीं करना चाहिये, उसका त्याग करना होगा। उसके पश्चात् जो करना चाहिये, उसमें जो हमारी फलासक्ति हो जाती है, उसमें जो कर्त्तृत्व का अभिमान हो जाता है, उससे अपने को बचाना चाहिये। और फिर जो हो रहा है, वह किसी विधान से हो रहा है। जिसके हम कर्त्ता नहीं हैं, उसका हमें भोक्ता नहीं होना चाहिये। तो जो हो रहा है उसके भोक्ता नहीं रहे और जो नहीं करना चाहिये, उसका त्याग कर दिया। जो करना चाहिये, उसकी फलासक्ति और अभिमान का त्याग कर दिया। तो आप 'करने" और "होने" मे असंग हो जायेंगे। तब जो "है" उसमें आपकी अविचल आस्था हो जायेगी, उसमें आत्मीयता हो जायेगी, श्रद्धा हो जायेगी, विश्वास हो जायेगा। उसका बोध हो जायेगा, उसमें आत्मीयता हो जायेगी, जिससे अगाध प्रियता स्वतः जाग्रत होगी। यही वास्यव में भजन है। "है" में यदि हमारी प्रियता नहीं है, तो भजन कैसा ! और "है" का यदि बोध नहीं है, तो तत्त्व-साक्षात्कार कैसा ! और "है" से यदि योग नहीं है, तो परम शान्ति कैसी !

आज यदि हम अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति पर विचार करें, तो जो "नहीं" है, उसके चिन्तन में, उसके आश्रय में, उसके तादात्म्य में आबद्ध हो गये हैं। आप कहेंगे, कैसे ? आप ही विचार कीजिये, जो चिन्तन आपके बिना करे होता है,

जिससे आप भयभीत होते हैं, वह क्या है ? वह दो रूपों में है, या तो वह है जो आप कर चुके हैं, या वह है जो आप करना चाहते हैं। तो जो कर चुके हैं, वह स्वरूप से मौजूद नहीं है, और जो करना चाहते हैं, वह वर्तमान कार्य नहीं है। अर्थात् जिसका अस्तित्व नहीं है, उसके चिन्तन ने आपको "है" के योग से, "है" के बोध से, "है" के प्रेम से विमुख कर दिया है "नहीं" के चिन्तन ने। अब "नहीं" का चिन्तन क्यों होता है? इसका जो मूल कारण है वह तो है—पराधीनता में जीवन-बुद्धि। हम कुछ करेंगे तब हमको कुछ मिलेगा—यह जो आस्था है, इस प्रकार का जो विश्वास है, इस विश्वास ने ही मानव को देहाभिमान में आबद्ध कर दिया है, बाँध दिया है।

आप कहेंगे; क्या बिना करे भी कुछ मिलता है ? एक बात तो सोचिये, जो मौजूद है, क्या वह कभी अलग होता है ? उसकी प्रियता नहीं है ? कि वह मौजूद नहीं है ? इस पर विचार करने से आपको मालूम होगा कि आस्तिकों का प्रभु मौजूद नहीं—ऐसा कोई नहीं मानता। अगर आप लोगों में-से कोई मानता हो, तो बतायें। क्या कोई यह कहता है कि प्रभु नहीं हैं ? क्या कोई अध्यात्मवादी ऐसा कहता है कि तत्त्व नहीं है ? क्या कोई भौतिकवादी यह कहता है कि जगत् नहीं है ? आप देखेंगे, नहीं करके कोई भी दर्शन किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करता। सब कहेंगे—प्रभु हैं। अध्यात्मवादी कहेगा—आत्मा है। भौतिकवादी कहेगा—जगत् है। "है" का समर्थन सभी दार्शनिकों ने किया है। उसका नाम कुछ रख दिया हो, उसका वर्णन कुछ किया हो। किन्तु "है" के सम्बन्ध में किसी ने यह नहीं कहा कि कोई नहीं है। यह भले ही कह दिया हो किसी ने कि "मैं आत्मा को ही मानता हूँ।" "मैं जगत को

मानता हूँ।" कोई कहेगा कि "मैं परमात्मा को मानता हूँ।" पर कोई ऐसा भी है जो यह कहे कि मै किसी को नहीं मानता? अच्छा, जो किसी को नहीं मानता, वह अपने को मानकर ही न! कहता कि मैं किसी को नहीं मानता।

आप विचार करके देखें कि अस्तित्व से किसी का विरोध नहीं है। "है" से किसी का विरोध नहीं है। किन्तु वह "है" कैसा है? कहाँ है? उसका-हमारा क्या सम्बन्ध है?—यह बात अलग रही। तो मेरा यह विवेदन है कि "है" कैसा है?–उसका स्वयं अनुभव करो। तो कैसे अनुभव करेंगे? कि जो "नहीं" है, उससे सम्बन्ध विच्छेद करके। आप विचार करके देखेंगे तो प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को इस बात का स्वतः अनुभव होगा कि जो व्यर्थ-चिन्तन के रूप में आपको प्रतीत होता है, वह वही प्रतीत होता है, जो उस समय नहीं है। आपने कोई बात की, उसका प्रभाव अंकित हो गया। जब आप शान्त हुए, तो वह चिन्तन के रूप में उत्पन्न हुआ। तो जिसका चिन्तन उत्पन्न हुआ है, क्या वह उस समय है? क्या विचार है आपका? (श्रोता: नहीं है)। तो "नहीं" का चिन्तन हो रहा है आपके बिना करे, आपके न चाहने पर भी। आप तो नहीं चाहते हैं।

आप तो चाहते हैं कि मन में निर्विकल्पता हो, बुद्धि में समता हो। आप यह तो नहीं चाहते हैं कि आगे-पीछे का चिन्तन हो। तो जो आपके न चाहने पर हो रहा है, उससे असहयोग करना आपके लिये क्या कठिन है? बतलाइये। उससे आप असहयोग तो करते नहीं। करते क्या हैं? एक नवीन चिन्तन करना आरम्भ करते हैं। किसी भी रूप में करें, किसी भाव में करें। वह जो नवीन चिन्तन आप करते हैं, वह वास्तव में

होना चाहिए था। यह थी माँग। आपकी आवश्यकता यह थी कि चिन्तन करना आप आरम्भ करते है, उसकी तो स्मृति जाग्रत होती, और जिसका चिन्तन हो रहा है, वह न होता। तभी न! आपको शान्ति मिलती। तभी न! आपको स्वाधीनता मिलती। परन्तु ऐसा क्यों नहीं होता? ऐसा इसलिये नहीं होता कि जो चिन्तन हो रहा है, जिसको आप नहीं चाहते हैं, उससे आप सहयोग नहीं करते हैं और जिसका चिन्तन करते हैं, उसमें आपकी वास्तव में आस्था नहीं है, आत्मीयता नहीं है। आप जानते हैं, अपने आप चिन्तन किसका होता है? जिसमें आस्था है, और जिसमें आत्मीयता है। अर्थात् जिसकी आप सत्ता स्वीकार करें और जिसे आप अपना मानें, अथवा जिसकी आवश्यकता अनुभव करें।

आस्था, आत्मीयता, और आवश्यकता—विचार कीजिये इन तीनों पर आस्था से निर्भयता आयेगी। आत्मीयता से प्रियता आयेगी। आवश्यकता से व्याकुलता आयेगी। किन्तु हमारी आस्था किसमें है? जो कर चुके हैं, जो करना चाहते हैं। जो कर चुके हैं, वह अब है नहीं, किन्तु आस्था करते हैं। और जो करना चाहते हैं, वह भी इस समय है नहीं। दो ही चीजें न! आपको दिखाई देती हैं। जो कर चुके हैं वह दिखाई देता है, और जिसमें आस्था होती है उसका भास होता है। किन्तु जिसका चिन्तन आपके बिना करे हो रहा है कि हम भविष्य में यह करेंगे, अथवा हम यह कर चुके हैं। तो जो कर चुके हैं और जो करना चाहते हैं, ये वर्तमान में नहीं हैं। तो जो वर्तमान में है उसमें हमारी आस्था नहीं, और जो नहीं है, उसकी हमने आस्था स्वीकार कर ली। जैसे कल्पना करो, कल आपने कोई बात की। उचित है अथवा अनुचित है उस पर पीछे विचार करेंगे। किन्तु कल जो किया, वह इस समय नहीं है, उसके

प्रभाव से आप क्यों प्रभावित होते हैं ? आप कहेंगे कि इसलिये होते हैं कि हमने ऐसी बात की जो नहीं करनी चाहिये थी। तो भाई, उसके न करने का निर्णय कर लो। यदि तुमने ऐसी बात की थी, जो करनी चाहिए, तो उसके फल की आशा छोड़ दो। क्योंकि किया हुआ सदैव नहीं रहता, और किये हुए का जो परिणाम है, वह भी सदैव नहीं रहता।

बड़े-से-बड़ा कर्मनिष्ठ यह सिद्ध नहीं कर सकता कि जो आप करते हैं, उसका परिणाम अविनाशी हो, नित्य हो, सदैव रहे। अथवा जो आप करते हैं, वह करना सदैव रहे। न कर्म सदैव रहता है, न उसका फल सदैव रहता है। तो फिर अगर हम कोई ऐसी बात कर चुके हैं, जो नहीं करनी चाहिये, तो उसके न करने के निर्णय के अतिरिक्त और कोई उपाय है क्या? जी ? की हुई भूल को न दुहरायें—इसके अलावा भूल मिटाने का कोई उपाय है क्या ? जानी हुई बुराई न करें—इसके अतिरिक्त बुराई से बचने का कोई उपाय है क्या? और की हुई भलाई का अभिमान छोड़ दें—इसके अतिरिक्त कर्म-फल से छुटकारा पाने का उपाय है क्या ? जी ? कोई उपाय नहीं है। सत्संग का अर्थ क्या है ? आप अपने सम्बन्ध में इतनी स्पष्टता से जान लें कि भाई, की हुई बुराई दोहरायेंगे नहीं, जानी हुई बुराई करेंगे नहीं, और की हुई भलाई का हमें फल नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए ? किये हुए का जो फल होता है, वह सदैव नहीं रहता।

और आपकी माँग क्या है ? क्या आपकी यह माँग है कि आपको वह चाहिये, जो सदैव न रहे ? प्रत्येक भाई-बहन की माँग है अविनाशी जीवन की। माँग आपकी उसकी है जो "है"।

"है" माने, जो पहले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा। तो जो सदैव रहेगा, उसकी माँग है जीवन में। और हम आबद्ध किसमें हो गये हैं ? किये हुए के फल में, अथवा किये हुए की आसक्ति में। आप विचार कीजिये, किये हुए की आसक्ति ही तो हमें विश्राम नहीं लेने देती। किये हुए का फल ही न ! हमको भोगना पड़ रहा है। तो जो किये हुए का फल है, वह तो नाश हो जायेगा, लेकिन किये बिना हम रह नहीं सकते— यह जो निर्बलता है, उसी ने हमें जो "है" उसमें आस्था नहीं होने दी। आप सोचिये, क्या वह भी परमात्मा होगा, जो वर्त्तमान में न हो ? क्या वह भी आत्मा होगी, जो वर्तमान में न हो ? यह तो कोई अध्यात्मवादी नहीं कह सकता, कोई ईश्वरवादी नहीं कह सकता। क्या वह भी जगत् होगा, जो मौजूद न हो ? "है" में नहीं-बुद्धि और "नहीं" में है-बुद्धि !

२३

ब

आप विचार कीजिये, जो नहीं है, उसमें तो है-बुद्धि हो गई और जो "है" उसमें नहीं-बुद्धि ! क्योंकि अगर आपने जिसे "है" करके स्वीकार किया है; यदि उसमें नहीं-बुद्धि नहीं है, तो आत्मीयता "है" में क्यों नहीं ? और यदि आत्मीयता है, तो क्या प्रियता नहीं होगी ? आप विचार तो कीजिये। जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसके प्रति प्रियता होती है कि नहीं? क्या विचार है आपका ? अच्छा, प्रियता से भिन्न भी कोई भजन है ? क्या किसी अनुष्ठान का नाम भजन है ? कदापि नहीं। तो मेरा यह निवेदन है कि सत्संग के द्वारा हम सबको "है" में अविचल आस्था करनी है। और जब अविचल आस्था हो जायेगी, तो आत्मीयता भी हो जायेगी। यानी जिसके अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेंगे, उसको अपना मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जिसको अपना मान लेंगे, उसकी स्मृति, चाहे आवश्यकता कहो, उदय होगी। देखिये, किसी आवश्यकता का उदय होना ही तो स्मृति है।

जैसे किसी को प्यास लगी हो, तो पानी की स्मृति होगी कि नहीं ? और जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करें, यही न ! मुक्ति है। और मुक्ति क्या है ? बताओ जरा। जिसकी

आप आवश्यकता अनुभव करते हैं उसकी आपमें स्मृति है। तो स्मृति जो है यह प्रियता की जननी है, बोध की जननी है, योग की जननी है, प्राप्ति की जननी है। देखिये, कोई चीज आप रख कर भूल गये और स्मृति आ गई, तो जिस वक्त रखी हुई चीज की स्मृति आती है, उस समय वह प्राप्त हो जाती है कि नहीं ? अच्छा, जिसको आपने अपना करके स्वीकार किया, उसकी स्मृति, उसकी प्रियता में हेतु है कि नहीं ? अच्छा, किसी की प्रियता क्या रस-रूप नहीं है? आप विचार कीजिये। आप विचार करें, कि यदि आपके जीवन में प्रियता है, तो क्या रस की अभिव्यक्ति नहीं होगी ? अच्छा रस की अभिव्यक्ति होने पर, क्या काम की उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं होती।

आज हमारे जीवन में नीरसता क्यों है ? इसलिए कि किसी की प्रियता नहीं है। अब जब किसी की प्रियता नहीं है, तो सिद्ध होता है कि आपने "है" में आस्था नहीं की। जब "है" में आस्था ही नहीं की तो "है" कहो, चाहे सत्य कहो, का संग कैसे होगा ? जरा विचार तो करो, आस्था और संग दो चीज है क्या ? एक ही चीज है। जब एक ही चीज है, तो हमारी "है" में आस्था है अथवा नहीं है—इस पर विचार करना है। अगर आप विचार करें और आपको यह मालूम हो जाय कि "है" जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। तो जब "है" ही नहीं है, तो "नहीं" तो नहीं है हो। जो "है" को "है" नहीं मानते, तब "नहीं" का तो "नहीं मानेंगे ही। तो क्या कोई भाई, कोई बहन यह मान सकते हैं कि साहब ! "है" नहीं है ? ऐसा कोई नहीं मानेगा। यह कहेंगे कि हम नहीं जानते "है" क्या है; पर है अवश्य। अरे भाई ! आपके न जानने पर भी जब "है" है, तब पहले आस्था करनी होगी कि पहले जानना होगा ?

देखिये, जिज्ञासा किसके सम्बन्ध में होती है ? जिसके सम्बन्ध में सन्देह होता है । और सन्देह किसके सम्बन्ध में होता है ? जिसके सम्बन्ध में आप 'नहीं' करके स्वीकार करते हैं । आप कहेंगे कि जब हमने "नहीं" करके स्वीकार कर लिया,तब सन्देह क्यों हुआ ?–'नहीं' में है-बुद्धि करने से । एक ओर 'नहीं है'—ऐसा भी मानते हैं, दूसरी ओर 'है'—ऐसा भी मानते हैं । जैसे जो घटना घट चुकी है, वह है नहीं, किन्तु फिर भी उसका अस्तित्व मानते हैं । यह जो "नहीं" का अस्तित्व मानते हैं,–है करके, जो पहले था । अरे भाई ! ,था' यह बात ठीक है, । पर वर्तमान में? बोले–नहीं है । तो जो नहीं है, उसमें 'आस्था'करने से क्या लाभ होगा ? कोई लाभ होने वाला नहीं है । आप यह कह सकते हैं कि वे सुख की घड़ियाँ अब नहीं हैं । यही न ! कह सकते हैं? सुख की घड़ियाँ अब नहीं हैं,उसका अब चिन्तन करते रहें, उसमें आप आस्था करते रहें । उसमें व्यर्थ-चिन्तन के अतिरिक्त कोई प्राप्ति हो सकती है–ऐसा मेरा अनुभव नहीं हैं, विश्वास भी नहीं है । यदि आप में-से किसी का अनुभव हो, तो प्रश्न कर सकते हैं । उसका उत्तर हो सकता है । किन्तु मेरे जानते, तो जो सुख की घड़ियां बीत गईं, वे अब हैं नहीं ।

जो संयोग-जनित सुख चला गया, वह अब है नहीं । कभी था, अब नहीं है । तो हमें उसके न होने में आस्था करना है कि उसके होने में? अगर उसके होने में आस्था करेंगे, तो 'नहीं' का चिन्तन होता रहेगा । यदि उसके होने में आस्था नहीं करेंगे,तो "है" की खोज उत्पन्न होगी । "है" क्या है—यह विचार-पथ हुआ । "है" में आस्था होगी—यह आस्था-पथ हुआ । तो चाहे विचार-पथ से, और चाहे विश्वास-पथ से "है" के साथ ही

आत्मीयता स्वीकार करना है। विचार-पथ से खोज उत्पन्न होगी, और विश्वास-पथ से आत्मीयता उदय होगी। आत्मीयता प्रियता में बदलेगी। और खोज जो "नहीं है" उसके असहयोग में और असंगता में आपको परिणत कर देगी। अर्थात् खोज आपको असंगता प्रदान करेगी। असंगता का अर्थ क्या है ? कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद, उससे असहयोग।

तो जिसका अस्तित्व नहीं है, उससे जब सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे योग हो जाता है। यानी किसी की असंगता किसी के बोध में हेतु है। किसी की विमुखता किसी की सन्मुखता में हेतु है। तो जब "है" का बोध होगा, तब "है" में प्रियता भी होगी। ऐसे ही जब "है" में प्रियता होगी, तो "है" का बोध भी होगा। तो चाहे तो बोध के द्वारा प्रियता प्राप्त करें, और चाहे प्रियता के द्वारा बोध प्राप्त करें। इन दोनों में प्रणाली-भेद हो सकता है, साधन-भेद हो सकता है, किन्तु फल में कोई भेद नहीं होता। तो जब हमें और आपको सत्संग करना है, तो इसका स्पष्ट अर्थ होता है कि जो मौजूद है, उसमें आस्था करें, अथवा उसकी खोज करें। परन्तु जब आप गम्भीरता से विचार करेंगे, तो स्पष्ट विदित हो जायेगा, आपको मालूम हो जायेगा कि मौजूद की खोज करना मौजूद का चिन्तन करना नहीं है।

यानी खोज में और चिन्तन में बड़ा अन्तर होता है। खोज निषेधात्मक होती है। बोले, "यह नहीं है"........... इस प्रकार खोज होगी ? विध्यात्मक खोज नहीं होती। तो निषेध किसका होगा ? जिसकी प्रतीति है, जिसका चिन्तन है, उसका निषेध

होगा। उसके निषेध से विधि किसकी होगी ? जो "है"। उस "है" को आप किसी नाम से कहो, किसी भाव से कहो, किसी प्रकार से कहो। किन्तु यह आपको स्वीकार ही करना पड़ता है कि जो "है" वही जीवन है ! वही जीवन है !!, जीवन "है" में है, "नहीं" में नहीं है। तो आज हमारी आसक्ति, हमारी ममता किसमें हो गई है ? जो "नहीं" है। और जिसमें आसक्ति होती है, जिसमें ममता होती है, उसकी कामना होती है। तो ममता, कामना और आसक्ति ये दोष हैं। इन दोषों का नाश कैसे हो सकता है ? "है" की आस्था से, "है" की प्रियता से, "है" की खोज से, "है" के योग से। तो "है' की खोज कैसे की जाय ? "है" से योग कैसे किया जाय ?

आप पहले यह सोचिये कि, क्या आप खोज करना चाहते हैं ? कि आप योग करना चाहते हैं ? व्याख्यान में एक बड़ी व्याधि होती है। और वह व्याधि यह होती है कि व्याख्यान करते समय वक्ता अपना परिचय देता चला जाता है, पर श्रोता की क्या माँग है—इस पर दृष्टि नहीं जाती। और यदि उस ओर दृष्टि जाय, तो अनेक श्रोता हैं, अनेक मत हैं। बताइये, कैसे व्याख्या हो ? इसलिए मुझे दोनों-तीनों बातें कहनी पड़ती हैं। अब आप विचार करें कि, क्या आप उस "है" का योग चाहते हैं ? अगर चाहते हैं, तो श्रम-रहित होने से "है" का योग होता है। और श्रम-रहित कैसे होते हैं ? निष्काम होने से। निष्काम कैसे होते हैं ? निर्मम होने से। निर्मम हुए बिना कोई निष्काम नहीं हो सकता। तो निर्मम किससे होना है ? जिसके सम्बन्ध में आपका यह निर्णय हो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अर्थात् उत्पन्न हुए शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व यदि है भी तो स्वतन्त्र नहीं है। तो

यदि आप यह स्वीकार कर लें कि जिस शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी ममता बनाये रखना "नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

"नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ने का अर्थ है कि "है" से विमुख होना है। गम्भीरता से विचार कीजिये, हम "हैं" से अलग नहीं हुए। विमुख हुए हैं। "है" की विस्मृति हुई है। "है" का अभाव नहीं हुआ है। क्योंकि जिसका अभाव हो सकता है, उसको "है" नहीं कह सकते। "है" से देश की दूरी नहीं हुई। "है" से काल की दूरी नहीं हुई कि अमुक काल में तो था और अब नहीं है। यह "नहीं" के सम्बन्ध में तो कह सकते हैं कि अमुक वस्तु पहले थी, अब नहीं है। जो वस्तु यहाँ है, वह वहाँ नहीं है। यानी देश की दूरी, काल की दूरी उत्पन्न हुई वस्तु के सम्बन्ध में आप कह सकते हैं। किन्तु जो अनुत्पन्न "है" उससे देश-काल की दूरी नहीं है। "है" उसे नहां कहते जो उत्पन्न हुआ हो। तो "है" किसको कहते हैं? कि जिससे उत्पत्ति हो। "है' उसको नहीं कहते जो पर-प्रकाश्य हो। "है" उसको कहते हैं, जो स्वयं-प्रकाश्य हो। "है" उसे नहीं कहते जिसका कोई आश्रय हो, "है" उसे कहते हैं, जो सर्व का आश्रय हो। जो सर्व का आश्रय है, जो सर्व का प्रकाशक है, और जो अनुत्पन्न हुआ है, वह अप्राप्त नहीं है। तो है क्या? उससे विमुखता है।

उसकी विस्मृति है, उसमें अविश्वास है। अविश्वास विश्वास से नाश होता है। विस्मृति स्मृति से नाश होती है। और विमुखता सन्मुखता से नाश होती है, किसी अभ्यास से नाश नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जिस "है" को आप प्राप्त करना चाहते है, उस "है" में आपकी आस्था है या नहीं? आप कहें

कि आस्था नहीं है। तो प्राप्त क्यों करना चाहते हैं ? यदि आप प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप कह ही नहीं सकते कि आपकी आस्था नहीं है। इस पर गम्भीरता से विचार कीजिये, जिसको आप प्राप्त करना चाहते हैं उसके बारे में आप नहीं कह सकते कि वह नहीं है। जब नहीं है, तो प्राप्त क्या करना चाहते हैं ? अच्छा, जब आस्था है, तब फिर "नहीं" की ममता कैसी ?" "नहीं" की कामना कैसी ? "नहीं" का तादात्म्य कैसा ? अगर "नहीं" में ममता नहीं है, "नहीं" की कामना नहीं है, "नहीं" का तादात्म्य नहीं है, तो निर्ममता, निष्कामता और असंगता है। जब तादात्म्य नहीं होगा तो असंगता होगी।

निर्ममता, निष्कामता और असंगता से क्या होगा ? "नहीं" की निवृत्ति होगी सरकार! "नहीं" की निवृत्ति में है "है" की प्राप्ति। इसी को अध्यात्मवाद की दृष्टि से कहा–नित्य-प्राप्त की प्राप्ति। "नहीं" की निवृत्ति के बिना "है" की प्राप्ति हो सकती है क्या ? कभी नहीं हो सकती। और "नहीं" की निवृत्ति श्रम-साध्य है क्या ? क्या निर्ममता श्रम-साध्य है? क्या निष्कामता श्रम-साध्य है? क्या असंगता श्रम-साध्य है? कदापि नहीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि निर्ममता से निष्कामता, निष्कामता से असंगता स्वतः साध्य है। निर्ममता का अर्थ क्या है ? जिससे आपकी जातीय एकता नहीं है, जिससे आपका नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसकी ममता का त्याग। आप कहेंगे कि वह क्या है? जिसकी प्रतीति है, जिसका भास है। प्रतीति किसकी है ? आपको कहना पड़ेगा–दृश्य की। दृश्य किसे कहेंगे? बोले, "यह" है। अच्छा, एक बात तो बताओ, दृश्य की प्रतीति किसके द्वारा है? दृश्य की प्रतीति का साधन क्या है ? दृश्य का

तादात्म्य । इसे इन्द्रिय-दृष्टि से न ! आप देखते हैं, बुद्धि-दृष्टि से न ! आप देखते हैं । इन्द्रियाँ भी तो दृश्य हैं । जी ? शरीर भी तो दृश्य है । यानी शरीर के सहयोग के बिना दृश्य की प्रतीति होती है क्या आपको ? जी ?

अच्छा, जिस शरीर से आपने तादात्म्य स्वीकार किया, उस शरीर पर आपका अधिकार कितना है ? उस शरीर से सम्बन्ध कब तक है? आपको मानना पड़ेगा कि सदैव नहीं है । इतना तो मानना पड़ेगा न ! और सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है । यानी वह घड़ी आ रही है, जबकि हम सब यह अनुभव करेंगे कि अब शरीर नहीं है । अच्छा, तो जब वह घड़ी आ रही है, काल का प्रवाह चल रहा है । आज जो शरीर 'है' करके मालूम होता है, वह 'नहीं' में परिवर्तित हो जायेगा, बदल जायेगा । यानी जिसकी प्रतीति है, वह 'नहीं' में बदल जायेगी । ऐसी दशा में भी हम ममता का त्याग न करें, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आपकी ममता कोई और मिटा देगा ? क्या अपने आप कभी मिटेगी ? वह वस्तु तो अपने आप मिटेगी जिसमें ममता है । पर, ममता अपने आप नहीं मिटेगी । विचार कीजिये, ममता आप कभी नहीं मिटेगी, किसी अन्य के द्वारा नहीं मिटेगी । क्यों ? आपने स्वीकार की है, यों । अपनी स्वीकृति का नाश अपने ही द्वारा होगा ।

इस दृष्टि से हम और आप सत्संग के अभिलाषी हैं । तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसका उपयोग कीजिये, पर ममता मत कीजिये, आप-हम शरीर का उपयोग करें, और ममता न करें, तो क्या कर्त्तव्य-कर्म में कोई बाधा हो सकती है? जी?—नहीं हो सकती । अच्छा,

संसार में कर्त्तव्य-कर्म की अपेक्षा और क्या आपकी आवश्यकता हो सकती है ? संसार में कर्त्तव्य ही है न ! जो आपके हाथ में है। जी ? तो जो मिला हुआ है, जो सदैव नहीं रहेगा, जो किसी का दिया हुआ है, जो किसी विधान से उत्पन्न हुआ है, उसके उपयोग में आप सदैव स्वाधीन हैं। किन्तु, उसको सदैव बनाये रखने में आप सदैव पराधीन हैं। तो जिसमें आप पराधीन हैं, उसको न करें, तो कोई आपत्ति होगी ? और जिसमें आप स्वाधीन हैं, उसे अभी कर डालें, तो कोई कठिनाई होगी ?— नहीं होगी। तो ममता के त्याग में कोई कठिनाई नहीं है। यदि आपने अपने ही द्वारा मिली हुई वस्तुओं की, मिले हुए व्यक्तियों की, मिले हुए शरीर की ममता का त्याग कर दिया, अर्थात् यह निर्णय कर लिया कि 'यह मेरा नहीं है', परन्तु फिर भी उससे सेवा करनी है, उसका उपयोग करना है।

तो सेवा करने में निर्ममता बाधक नहीं है, अपितु सहायक है। क्यों ? अपना बिना मान कर जितनी उदारता से आप काम कर सकते हैं, उतनी उदारता से अपना मानकर कर सकते हैं क्या ? जी ? किसी उत्सव में कोई लड्डू बाँटने के लिए खड़ा कर दे, तो आप कभी सोचते हैं क्या, कि उसको नहीं देना चाहिए ? और यदि खरीद के लाये हों, अपने हों, तब ? तब तो ऐसी बात नहीं होगी न ! तो निर्ममता उदारता में हेतु है। और उदारता से ही आप जगत् के लिए उपयोगी होते हैं। और किसी प्रकार नहीं होते। तो जगत् के लिए उपयोगी होने के लिए तो निर्ममता अपेक्षित है। इस दृष्टि से अगर आप विचार करेंगे, तो भौतिक विकास में भी निर्ममता ही समर्थ है। अच्छा, अब आप सोचिये, निर्मम होने से आपको क्या मिला ? एक तो कर्त्तव्य-परायणता आ गई और वह

कर्त्तव्य-परायणता जगत् के लिए उपयोगी हुई, आपके लिए उपयोगी नहीं हुई। आपके लिए क्या चीज उपयोगी हुई ? कि आपमें निर्विकारता आ गई निर्विकारता। व्यक्ति की ममता गई, आप मोह-रहित हो गये, मोह रूपी विकार गया वस्तु की ममता गई, तो निर्लोभ हो गये। परिस्थिति की ममता गई, तो दीनता और अभिमान से रहित समता में प्रवेश हो गया। अवस्था की ममता गई, तो परिच्छिन्नता नाश हो गई। तो निर्विकारता प्राप्त हुई किसके द्वारा ? निर्ममता के द्वारा।

मैं आपसे पूछता हूँ, कौन-सी योग्यता है ऐसी ? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। और कौन-सा तप है ऐसा ? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। और कौन-सा कर्म है ऐसा ? जिससे आपको निर्विकारता मिल जाय। इस पर विचार करने की बात है। किसी योग्यता से, किसी अनुष्ठान से, किसी तप से आपको निर्विकारता प्राप्त नहीं होती। यदि निर्विकारता प्राप्त होती है तो निर्ममता से। अब आप विचार करें। जब आप किसी से शासित नहीं रहना चाहते, तो किसी पर शासन कैसे कर सकते हैं ? इसलिए निर्ममता से ही निर्विकारता मिलेगी। और निर्मम होने के पश्चात् निष्काम होने की सामर्थ्य स्वतः आयेगी। तो जब निर्ममता से निष्कामता, और निष्कामता से असंगता स्वतः प्राप्त होगी, और वर्त्तमान में प्राप्त होगी, तो आप सोचिये, कि निर्ममता से निर्विकारता और निष्कामता से ऐश्वर्य और असंगता से स्वाधीनता ...... ये वर्त्तमान जीवन की वस्तु है कि भविष्य की वस्तु हैं ?

यदि आप अपने में विकार अनुभव करते हैं, तो उसका अर्थ यह है कि आपमें खुद निर्विकारता की भूख नहीं है। आज

यदि अपने में आप अशान्ति अनुभव करते हैं, तो इसका अर्थ है कि आप में शान्ति की भूख नहीं है। वर्त्तमान में यदि आप पराधीनता का अनुभव करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि आपको स्वाधीनता की भूख नहीं है। तो जो आवश्यकता के ही रूप में आज नहीं है, क्या वह प्राप्ति के रूप में कभी होगी ? नहीं होगी। और जो आवश्यकता के रूप में आज है, वह प्राप्त न हो, क्या यह कभी सम्भव है ? कभी सम्भव नहीं है। इस-लिये मानव-मात्र को निर्विकारता से, परम शान्ति से, स्वाधीनता से, अगाध प्रियता से कभी निराश नहीं होना चाहिए। यह कभी नहीं सोचना चाहिए, कि निर्विकारता मुझे नहीं मिल सकती, अगाध प्रियता मुझमें नहीं आ सकती।

दूसरी बात कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी आशा करनी चाहिए क्या? जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी आशा न करें, तो जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसमें आस्था हो जायेगी कि नहीं ? तो इस दृष्टि से आप विचार करेंगे, तो आपको मालूम होगा कि 'सत्संग' से सर्वतोमुखी विकास होता है, और मानव-मात्र का होता है। यह नहीं, कि ईश्वरवादी का होगा और अनीश्वरवादी का नहीं होगा। यह नहीं, कि भौतिकवादी का होगा और अध्यात्मवादी का नहीं होगा। या अध्यात्मवादी का होगा, भौतिकवादी का नहीं होगा। चाहे आप भौतिकवादी हैं, चाहे अध्यात्मवादी हैं, चाहे ईश्वरवादी हैं, किसी प्रकार की मान्यता आपकी है। किन्तु सत्संग के द्वारा मानव-मात्र को निर्विकारता, परम शान्ति, स्वाधीनता, अगाध प्रियता प्राप्त हो सकती है। यह निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से सत्संग में ही मानव-जीवन के पुरुषार्थ की परावधि है।

❁ ❁

२४

मानव-जीवन की पूर्णता तभी होती है, जब मानव अपने लिये भी उपयोगी हो, जगत् के लिये भी उपयोगी हो और जो जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है, उसके लिये भी उपयोगी हो।

जिसने यह आवश्यकता अनुभव की कि मेरा जीवन जगत् के लिये, अपने लिये और प्रभु के लिये उपयोगी हो, उसे सफलता अवश्य मिलती है।

दरिद्रता का स्वरूप क्या है? ......अप्राप्त की कामना बनी रहे, और आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो। जब तक जीवन में वस्तु का महत्त्व है, तब तक निर्लोभता प्राप्त नहीं होगी।

अपने जाने हुए 'असत्' के त्याग से ही अकर्त्तव्य, असाधन और समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। अकर्त्तव्य से रहित होते ही जीवन में कर्त्तव्य-परायणता आती है। आसक्ति से रहित होते ही जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

— — —

२४

अ

प्रवचन :

उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन !

यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। और वह प्रेम मानव-मात्र को, अर्थात् प्रत्येक भाई और बहन को मिल सकता है। कारण कि, प्रेम की प्राप्ति में कोई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति हेतु नहीं है। अपितु जिसे हम अपना करके मानते हैं, उसी में प्रियता होती है। अब प्रश्न यह आता है कि किसी को अपना मानने में किन-किन बातों की आवश्यकता होती है ? उसके लिए सभी को निर्मम और निष्काम होना पड़ता है। प्रेम के साम्राज्य में कोई भी प्रेमी अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं रख सकता। और न कामना-पूर्ति के प्रलोभन में ही आबद्ध रह सकता है। इतना ही नहीं, जिसे कुछ नहीं चाहिए—इसका अर्थ क्या है ? भोग और मोक्ष दोनों ही नहीं चाहिए।

आप विचार करके देखें, समस्त भोग कर्म-सापेक्ष है। और मोक्ष विवेक-सिद्ध है। कर्म सामग्री प्रत्येक भाई-बहन को स्वभाव से ही प्राप्त है। तात्पर्य क्या निकला? कि जो मिला है,

उसके सदुपयोग से ही भोग का सम्पादन होता है। भोग की कामना से भोग की प्राप्ति नहीं होती। और जो आप जानते हैं, उसके आदर से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तो भोग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन मनुष्य-मात्र को बिना ही माँगे प्राप्त है। परन्तु भोग का जो परिणाम है, वह अभाव रूप है। इस कारण भोग-प्राप्ति जीवन का उद्देश्य नहीं है। और विवेकपूर्वक जो मोक्ष की प्राप्ति है, वह अपने लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा मोक्ष बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। परन्तु जिसने भोग-सामग्री प्रदान की, अथवा विवेक प्रदान किया। और इस अनुपम उदारता से प्रदान किया, कि किसी को यह मालूम नहीं होता, कि जो कर्म-सामग्री मुझे प्राप्त है, वह मेरी अपनी नहीं है। जो विवेक मुझे प्राप्त है, वह मेरा अपना नहीं है।

अर्थात् दाता ने इतनी उदारतापूर्वक यह दिया है कि जो यह मालूम ही नहीं होता कि किसी ने हमको यह दिया है। परन्तु क्या हम उसको अपना मानने के लिये राजी नहीं हैं ? यदि हम "उसे" अपना मान सकें तो निस्संदेह जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो सकता है। आप विचार करके देखें, प्रेम कोई अभ्यास नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है, कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है। अपितु, मानव-मात्र में स्वभाव से मौजूद है। परन्तु उसका बोध कब होता है ? जब मानव आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुने हुए प्रभु को अपना मान लेता है। अर्थात् यह स्वीकार करता है, कि "वे" मेरे अपने है. और यह जो कुछ मिला है, वह "उनका" है। उनकी आत्मीयता में जो रस है, वह न तो भोग में है, न शान्ति में है और न स्वाधीनता में है। आप कहेंगे, कैसे ? यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि भोग

आरम्भ काल में सुखद और परिणाम में दुःखद है। शान्ति में भी रस है। स्वाधीनता में भी रस है।

परन्तु शान्ति और स्वाधीनता के रस में अहम्-भाव का अत्यन्त अभाव नहीं होता। क्यों? आप अनुभव करते हैं...... "मैं शान्त हूँ", "मैं स्वाधीन हूँ" एक बात। दूसरी बात यह है कि शान्ति और स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी हैं। पर, आत्मीयता से जाग्रत जो प्रियता है, वह प्रभु के लिये उपयोगी है। उसी प्रियता का जो क्रियात्मक-स्वरूप है वह सेवा है। सेवा जगत् के लिये और प्रियता प्रभु के लिये उपयोगी है। शान्ति और स्वाधीनता अपने लिये उपयोगी हैं। मानव-जीवन की पूर्णता तभी होती है, जब मानव अपने लिये भी उपयोगी हो, जगत् के लिये भी उपयोगी हो, और जो जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है, उसके लिये भी उपयोगी हो। अर्थात् जो जीवन सभी के लिये उपयोगी है, वही मानव-जीवन है। इसी उद्देश्य को जब हम अपने सामने रखते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम सब इस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तत्पर हो जायँ।

आप जानते हैं, किसी की प्राप्ति का उपाय क्या है? उसकी आवश्यकता का होना। तो जिसने यह आवश्यकता अनुभव की कि मेरा जीवन जगत् के लिये, अपने लिये और प्रभु के लिये उपयोगी हो, तो उसे सफलता अवश्य मिलती है। बहुत से भाई कहते हैं कि यह तो बड़ी कठिन बात है। मेरा निवेदन यह है कि जिसकी प्राप्ति आवश्यकता-मात्र से होती है, भला यह भी कठिन है? आप विचार करके देखिये, जब आप कोई कामना पूरी करना चाहें, तो कामना-मात्र से कामना पूरी नहीं होती। उसके लिए किसी न किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का आश्रय

लेना पड़ता है। उस पर भी सभी कामनायें पूरी नहीं होती। तो वह तो आज हमें सुलभ मालूम होता है ! और जिस जीवन की प्राप्ति केवल उस जीवन की आवश्यकता-मात्र में निहित है, वह आज हमें दुर्लभ मालूम होता है ! कठिन मालूम होता है ! यह हमारी भूल है। यह वास्तविकता नहीं है। पर, यह भूल कैसे नाश होती है ? जब मानव शान्तिपूर्वक, अपने ही द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार करे। अपने सम्बन्ध में विचार करने के समान और कोई पुरुषार्थ नहीं है, और कोई पुरुषार्थ नहीं है। किन्तु, आज हम अपने सम्बन्ध में विचार ही नहीं करना चाहते। उसी का यह परिणाम हुआ है कि हम अपने को मानव कहते तो हैं पर, अगर कोई यह प्रश्न करे, कि आप मानव क्यों हैं ? तो इसका उत्तर दूसरे को तो कौन कहे, अपने को भो देना कठिन हो जाता है।

क्यों कठिन हो जाता है ? इसलिये कठिन हो जाता है कि हमने इस वास्तविकता पर कभी विचार ही नहीं किया कि हम मानव क्यों हैं। आप विचार करके देखेंगे, कि जहाँ तक सुख और दुःख के भोग का प्रश्न है, वहाँ तो प्राणी-मात्र भोगता ही है। हम अगर सुख-दुःख ही भोगते रहें,तो बताइये अन्य प्राणियों और मानव-जीवन में अन्तर ही क्या होगा ? मानव-जीवन का आरम्भ ही तब समझना चाहिए, जब सुख और दुःख में जीवन-बुद्धि न रहे। हमें यह न मालूम हो कि कामना-पूर्ति ही जीवन है, या कामना अपूर्ति ही जीवन है। कामना-पूर्ति और अपूर्ति तो दो अवस्थायें हैं। ये अपने आप आती हैं और अपने आप जाती हैं। सभी भाई-बहनों का यह अनुभव है कि आपके चाहते हुए भी सुख चला जाता है, और न चाहने पर भी दुःख आ जाता है। जब हम सबका यह अपना अनुभव है, तब आप ही

बताइये, कि सुख के प्रलोभन का और दु:ख के भय का जीवन में स्थान ही क्या है ? जब आपके चाहते हुए भी सुख चला ही जायेगा, और न चाहने पर भी दु:ख आ ही जायेगा। तो जो चला ही जायेगा, उसके प्रलोभन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। और जो आपके न चाहने पर भी आ ही जायेगा, उसके भय से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

इसलिए आज हम जो सुख का आवाहन करते रहते हैं, चिन्तन करते रहते हैं, दु:ख से भयभीत होते रहते हैं। आप जानते हैं, आज के युग में लोगों ने बड़ा प्रयास किया, बड़े प्रयत्नशील हैं, किस बात के लिए ? कि जीवन में जो सुख का भाग है, वह तो सुरक्षित बना रहे, और जो दु:ख का भाग है वह निकाल दिया जाय। प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्दी आती है, तो कहते हैं कि कमरे को गर्म कर दो। और ग्रीष्म ऋतु आती है, तो कहते हैं कि कमरे को ठंडा कर दो। तो आप निरन्तर इसी प्रयास में लगे रहते हैं कि किसी तरह से सुख बना रहे और दु:ख न आये। दूसरा प्रयास क्या रहता है ? कि हम अपने से निर्बलों पर सदैव विजयी बने रहें, शासक बने रहें। आप विचार करके देखिये, बल का जो सम्पादन है वह किस काम आयेगा ? क्या बल से आप समान बल पर अथवा अधिक बल पर विजयी होंगे ? कभी नहीं हो सकते। इसका दुरुपयोग क्या होगा ? दूसरों पर विजयी होने की अभिरुचि। सदुपयोग क्या होगा ? निर्बलों की सेवा में। तो बल का जो सदुपयोग है, वह तो है सेवा में।

सेवा के लिए जिस बल की आवश्यकता है, वह बल आपको बिना माँगे, मिलेगा। क्यों ? यह मंगल विधान है।

परन्तु जब हम प्राप्त बल निर्बलों पर विजयी होने के लिए प्रयोग करने लगते हैं, तब क्या होता है ? कि धीरे-धीरे बल की क्षति होने लगती है । और अन्त में वह विजयी उसी स्थिति में आता है जिस स्थिति में पराजित था । ऐसा विधान ही है । इस दृष्टि से बल का उपयोग एक-मात्र सेवा में है । परन्तु आप जानते हैं, सेवा की अभिरुचि अथवा सेवा की सामर्थ्य कब आती है जीवन में ? जब जीवन प्रेम से भरा हो । जिसमें हमारा प्रेम नहीं होता, हम उसकी सेवा नहीं कर सकते । एक बात । दूसरी बात, यह है कि सेवा करने के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जो सेवा-सामग्री है, यदि हम उसे अपना मानेंगे, तो हम सेवा नहीं कर सकते ।

पुण्य-कर्म में और सेवा में अन्तर क्या है ? अपनी वस्तु मानकर आप किसी की सहायता करते हैं, तो वह पुण्य-कर्म है, सेवा नहीं है । अपनी योग्यता मानकर सेवा करते हैं, तो वह भी कर्म है । अपनी सामर्थ्य मानकर सेवा करते हैं, तो वह भी कर्म है । सेवा कब होती है ? जिसकी सेवा करना है, और जिस वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा करना है, वह वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य अपनी नहीं है, अपितु उसी की है, जिसकी सेवा करनी है । तो किसी की धरोहर को आदरपूर्वक भेंट कर देना यह है—सेवा । किन्तु आज हम इस बात को भूल जाते हैं । और जब कोई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त होती है, तो हम उसे अपनी मान लेते हैं । जब अपनी मान लेते हैं, तब उसके द्वारा अपने सुख के सम्पादन की रुचि जाग्रत् होती है । यह रुचि भूल से उत्पन्न हुई है, वास्तविक नहीं है । और जो चीज भूल से उत्पन्न होती है, वह किसी के लिए उपयोगी नहीं होती, न अपने लिए, न दूसरों के लिए ।

इसलिये सबसे पहले इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमें जो कुछ मिला है, क्या वह हमारा अपना है ? एक बात। दूसरी बात—क्या अपने लिए है ? इन दोनों प्रश्नों का निर्णय अपने द्वारा कर सकें और यह अनुभव कर सकें कि वास्तव में जो अपने को मिला है, वह अपना नहीं है। क्योंकि मिला हुआ कहते ही उसको हैं, जो किसी का दिया हुआ हो। हम लोगों को जिस कमरे में ठहरने को मिला है, क्या वह कमरा हम लोगों का अपना है ? आपको मानना पड़ेगा—नहीं। तब क्या जो शरीर हम लोगों को मिला है, वह अपना है ? जैसे कमरा मिला है, वैसे ही शरीर मिला है वैसे ही योग्यता मिली है, सामर्थ्य मिली है। वैसे ही सम्बन्धी मिले हैं। भाई ! मिले हुए का अर्थ तो एक ही न ! होगा। तो जो हम सबको मिला है, वह हम सबका व्यक्तिगत नहीं है।

किन्तु जिसने दिया है, वह इतना महान् है कि इस उदारता से दिया है कि हमें अपना ही मालूम होता है। यद्यपि आप देखेंगे कि पिता की दी हुई सम्पत्ति पुत्र को अपनी नहीं मालूम होती, उसमें अन्तर मालूम होता है। किन्तु जिस मंगलमय विधान से हमें शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मिली है, ये हमें यही मालूम होती है कि हमारी अपनी हैं। आप देखेंगे जब कोई बालक युवावस्था को प्राप्त होता है, उसके घर में कितनी ही सम्पत्ति हो उसके पिता की उपार्जित, किन्तु जब तक वह स्वयं उपार्जन करके खाता-पीता नहीं है, तब तक उसको वह रस नहीं मिलता, जो उसे अपनी उपार्जित सम्पत्ति से मिलता है। क्यों नहीं मिलता? यह एक स्वाभाविक बात है कि दूसरों की दी हुई जो वस्तु होती है, वह उतनी प्यारी नहीं लगती, जितनी

अपनी उपार्जित होती है। किन्तु जिसने हमें उपार्जन की शक्ति दी, योग्यता दी, कर्म-अनुष्ठान के लिए कर्म-सामग्री दी, विचार करने के लिए विवेक-रूपी प्रकाश दिया, इन्द्रिय-दृष्टि पर विजयी होने के लिए बुद्धि-दृष्टि दी, वह हमें ऐसी ही मालूम होती है कि मानो, हमारी ही है।

तो यह तो उस दाता की महिमा है। यह वास्तविकता थोड़े ही है! जब आप इस निर्णय पर पहुँच जाँय, ऐसा आपको अनुभव हो कि मुझे जो कुछ मिला है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिए नहीं है। आप कहेंगे, कैसे? आप विचार तो करें, आपके पास जो कुछ है, जब तक वह दूसरे के लिए उपयोगी नहीं होता, तब तक दूसरे के पास जो कुछ है, वह आपके लिए उपयोगी होता है क्या? आप दैनिक जीवन में विचार करें। जब कोई बोलता है, तो वह श्रोता के काम आता है। ओर जब कोई सुनता है, तब सुनने से जो प्रतिक्रिया होती है, वह भले ही वक्ता के लिए उपयोगी हो। ऐसे ही आप देखेंगे, पति के पास जो कुछ है, वह पत्नी के और पत्नी के पास जो कुछ है वह पति के काम आता है। दो वर्गों के बीच, दो व्यक्तियों के बीच, दो देशों के बीच आप पायेंगे कि जो उसके पास है, वह उसके काम नहीं आता। वह दूसरे के काम आता है। और दूसरे के पास जो कुछ है, वह अपने काम आता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ? कि मिला हुआ अपने लिए नहीं है। यह आपका अपना ज्ञान है। यह कोई कल्पना नहीं है, मान्यता नहीं है। यह तो आपका आपना ज्ञान है। अपका अपना अनुभव है कि जो आपको मिला है, वह दूसरे के काम आता है। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि हम सब में वास्तव में—एकता है।

किन्तु वह एकता सुरक्षित क्यों नहीं रहती ? वह इसलिए नहीं रहती कि हम मिले हुए की ममता से, मिले हुए के तादात्म्य से अपने में अनेक प्रकार की कामनायें उत्पन्न कर लेते हैं। यह जो कामनाओं की उत्पत्ति है, वह प्राकृतिक नहीं है। यह भूल-जनित है, इसलिए उनकी निवृत्ति हो सकती है। यदि कामनाओं की उत्पत्ति प्राकृतिक होती, तो निष्कामता कभी किसी को प्राप्त न होती। परन्तु विचारशीलों का मत है कि प्रत्येक भाई-बहिन को निष्कामता प्राप्त हो सकती है। कब प्राप्त होती है ? कि जब वह मिले हुए की ममता से, मिले हुए के तादात्म्य से, मिले हुए के दुरुपयोग से अपने को रहित कर लेता है, तब उसे निष्कामता मिलती है।

अब आप सोचिये, यदि आपसे कोई कहे कि आप वह कीजिये, जो आप नहीं कर सकते। तो आप कहेंगे कि यह बात असम्भव है। किन्तु कोई आपसे कहे कि आप जो कर सकते हैं, वह करें। तो क्या आप नहीं कर सकते ? आप मिले हुए का सदुपयोग कर सकते हैं। कब ? जब दुरुपयोग न करने का निर्णय कर लें तब। देखिये, यह जो जीवन में कर्त्तव्य परायणता आती है न ! वह भी श्रम-साध्य नहीं है, सहज है, स्वाभाविक है। परन्तु आज बड़ी कठिन मालूम होती है। और ऐसा मालूम होता है कि हम बड़े परिश्रमपूर्वक कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। बड़ी कठिनाइयों से कर्त्तव्यपालन करते हैं। यह बात भ्रमात्मक है। किन्तु ऐसा मालूम होता है, प्रतीत होता है। क्योंकि हम वही करते हैं जो नहीं करना चाहिए। यदि आप यह निर्णय कर लें कि हम मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो क्या परिणाम होगा उसका ? कि या तो न करने की स्थिति प्राप्त होगी, या सदुपयोग होगा। सदुपयोग करेंगे—ऐसा नहीं;

दुरुपयोग न करने के निर्णय से ही अथवा यों कहिये, कि दुरुपयोग न करने से स्वतः सदुपयोग होता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि कर्त्तव्यपरायणता स्वतः जीवन में आती है। उसके लिए केवल इस असत् का त्याग करना पड़ता है कि हम मिले हुए का दुरुपयोग न करें। यह असत् है न ! आप सोचिये, आप सबल से क्या आशा रखते हैं ? यही आशा रखते हैं कि वह आपकी रक्षा करे। किन्तु स्वयं निर्बल की रक्षा करना आपको कठिन मालूम होता है। क्यों कठिन मालूम होता है ? कि आप इस बात को भूल जाते हैं कि बल निर्बल की सेवा-सामग्री है। अपितु यह मानने लगते हैं कि हमें बल के द्वारा अपने व्यक्तिगत सुख का सम्पादन करना है। व्यक्तिगत सुख माँग और भोग दो रूपों में आपके सामने आता है। माँग भी व्यक्तिगत सुख ही है। और कामना-पूर्ति भी व्यक्तिगत सुख है।

तो जब तक जीवन में भोग और माँग की रुचि रहती है, तब तक मानव मिले हुए बल का, मिली हुई वस्तु का सदुपयोग नहीं कर पाता। क्यों ? जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मंगलमय विधान से दूसरों के लिए मिली है, उसका उपयोग जब हम अपने लिए करना चाहते हैं, तब उसका सदुपयोग नहीं कर सकते। तो सबसे पहले प्रत्येक भाई-बहन को इस वास्तविकता पर इस असलियत पर विचार करना होगा कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो अपने लिए नहीं है। यह निर्णय आपको स्वयं अपने सम्बन्ध में करना है। कोई दूसरा आपके सम्बन्ध में निणय नहीं कर सकता और न कोई दूसरा बलपूर्वक करा ही सकता है।

८४

ब

क्या आप-हम इस बात को नहीं जानते हैं कि वैधानिक-दृष्टि से राष्ट्र ने एक नियम बना दिया कि तुम एक सीमा से आगे सम्पत्ति अपने लिये नहीं रख सकते? इस नियम का पालन कितने लोग सचमुच कर पाते हैं ? इस बात को कितने लोग अपनी बात मान पाते हैं ? हमने बड़े-बड़े धार्मिक-विचार के लोगों से यह सुना है, उन्होंने हमसे कहा है कि हम क्या करें ! हम तो इन्कम-टैक्स इसलिये बचाते हैं कि सरकार के पास जो वस्तु जाती है उसका सदुपयोग ही नहीं होता। और यह बात किसी सीमा तक ठीक भी है, कम-से-कम इस देश के लिये।

एक भाई ने ब्लैक मार्केट किया। मैंने उनसे पूछा कि लोग कहते हैं कि आपके यहाँ भी ब्लैक मार्केटिंग हुआ। तो उन्होंने बड़ी ईमानदारी से कहा कि हुआ है। हमने कहा कि कैसे हुआ? तब उन्होंने कुछ बातें बताईं–हमारी दुकान पर जो माल आता था कोटा का मिल से, वह पूरा नहीं उठता था, कोटा अधिक था, बिक्री कम थी,हमने सोचा कि जिस माल को हम नहीं लेते हैं उसका मिल-औनर ब्लैक करेगा, किसी को देते हैं तो वह ब्लैक करेगा, अतः यह बचा हुआ माल ब्लैक में ही बिकेगा,हम ही क्यों न करें !' तो उन्होंने किया और उसके बदले में–मैं उन्हीं

की कही बात कहता हूँ–"लाखों रुपया आया, थोड़ा-बहुत नहीं, पर वह सारा का सारा रुपया मैंने सार्वजनिक काम में लगा दिया।" यह बात भी ठीक नहीं है। तो बहुत से लोग ऐसा भी सोच बैठते हैं कि हम ब्लैक से रुपया कमायेंगे और किसी अच्छे काम में लगा देंगे।

आप सोचिये। बात किसी दृष्टि से किसी सीमा तक ठीक भी है कि आज की सरकार के काम बड़े लचर-पचर होते हैं। जितना व्यय होता है, उतना काम नहीं होता। यह बात भी आज ठीक है। परन्तु एक बात तो सोचिये, चरित्र का महत्त्व बढ़ा कि वस्तु का ? आपको यह मानना पड़ेगा कि वस्तु का महत्त्व बढ़ा। जब तक जीवन में वस्तु का महत्त्व है, तब तक वास्तविक निर्लोभता का साक्षात्कार होगा ? अथवा यों कहिये कि क्या हमें निर्लोभता प्राप्त होगी ? वस्तु का महत्त्व होते हुये निर्लोभता प्राप्त नहीं हो सकती। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि निर्लोभता प्राप्त हुये बिना दरिद्रता का नाश नहीं होता, आपके पास सम्पत्ति कितनी ही हो।

दरिद्रता का स्वरूप क्या है ? अप्राप्त की कामना बनी रहे–एक बात। आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो–दो बात। दरिद्रता का अर्थ इसके अतिरिक्त कुछ होगा–वह कम-से-कम मेरी समझ में नहीं आया। देखिये, सम्पत्तिशाली का अर्थ यह नहीं है कि एकाउण्ट बैंक में रखा रहे तो आप बड़े सम्पत्तिशाली हैं। सम्पत्तिशाली का अर्थ जो मैंने समझा है, वह यह है कि आवश्यक वस्तु आवश्यकता से पूर्व ही आपको प्राप्त हो जाय। आप देखेंगे कि बालक का जन्म पीछे होता है और माँ के स्तन में दूध पहले आ जाता है। यह नियम है कि आवश्यकता से पूर्व आवश्यक वस्तु की उत्पत्ति होती है। वास्तव में सम्पत्तिशाली

कौन हुआ ? कि जिसको आवश्यकता उत्पन्न होने से पहले वस्तु की प्राप्ति हो जाय। दरिद्रता क्या हुई ? कि आवश्यकता तो है, पर वस्तु है ही नहीं। अथवा जो हैं उसमें तो सन्तोष न हो, और जो नहीं है, उसकी कामना हो।

अप्राप्त की कामना सिद्ध करती है कि हमारे जीवन में दरिद्रता है। प्राप्त का सदुपयोग, और अप्राप्त की कामना का न होना, संग्रह की रुचि का न होना, मिले हुये का दुरुपयोग न करना—इससे निर्लोभता सिद्ध होती है। और जब जीवन में निर्लोभता आ जाती है, तब आप इस बात को मानें, न मानें, अनुभव करके देखें कि निर्लोभता के आने से आवश्यक वस्तु की प्राप्ति होती है। तो निर्लोभता का असली स्वरूप क्या हुआ? कि वस्तु से अपना मूल्य अधिक हो जाय। शरीर के साथ इस विधान को लगायेंगे तो जहाँ निर्लोभता आयेगी, वहाँ निर्मोहता भी जायेगी। परिस्थिति के साथ लगायेंगे तो वहां निष्कामता भी आ जायेगी। अवस्था के साथ लगायेंगे तो असंगता भी आ जायेगी।

एक ही गुण स्थान भेद से निर्लोभता, निर्मोहता, निष्कामता और असंगता के रूप में अभिव्यक्त होता है। उसी प्रकार एक ही दोष स्थान भेद से कहीं लोभ के रूप में, कहीं मोह के रूप में, कहीं कामना के रूप में, कहीं तादात्म्य के रूप में है। अनेक दोष नहीं हैं। एक ही दोष है, स्थान भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। और एक ही गुण है, जो स्थान भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। तो कौन सा दोष ? "यह" के द्वारा अपना मूल्यांकन करना। जो मिला है, उसी से मेरा महत्त्व है-यही सबसे बड़ा दोष है। और सबसे बड़ा गुण क्या है भैया ?

एक ही वाक्य में सोचिये। जो "है" उसी में मेरा महत्त्व है। यह सबसे बड़ी विशेषता है।

"है" को मिले हुये से अलग मानना होगा। मिला हुआ–है और "है" एक नहीं है। जैसे आप कहें कि मेरे पास शरीर है। शरीर को आप "है" नहीं कह सकते। शरीर तो आपको मिला है। "है" उसे कह सकते हैं जिसका कभी नाश न हो और जिससे कभी विभाजन न हो। आप देखेंगे कि कोई भी उत्पत्ति उससे विभाजित नहीं होती जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है। अतः समस्त विश्व उससे अलग हो ही नहीं सकता जो उसका आश्रय है, जो उसका प्रकाशक है। तो हम सब अपने आश्रय से, अपने प्रकाशक से विभाजित नहीं हो सकते स्वरूप से। किन्तु आज हम उससे अपने को अलग मानते हैं। और जो मिला हुआ है उससे अभिन्न मानते हैं। यह असत् का संग हो गया न !

यानी जो मौजूद है उससे तो अपने को अलग मान लिया, और जो मिला है उससे अपने को अभिन्न मान लिया। तभी न! आप कहते हैं–शरीर मेरा है। आप यह क्यों नहीं स्वीकार कर पाते कि प्रभु मेरा है ? आप विचार करके देखिये, जिस प्रकार आपको आज शरीर अपना मालूम होता है, उसी प्रकार उसी सत्यता के साथ, उसी दृढ़ता के साथ, उसी निर्विकल्पता के साथ, उसी आस्था और विश्वास के साथ यह क्यों नहीं मालूम होता कि प्रभु मेरा है ? इसलिये न ! कि मिले हुये को आपने अपना मान लिया और जो मौजूद है उसे आप अपना नहीं मान पाते। उसी का परिणाम क्या होता है कि आज आपके सामने यह प्रश्न है कि क्या बतायें ! भगवत्-स्मृति नहीं होती, स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, परम शान्ति नहीं मिलती, पराधीनता

नहीं मिटती, नीरसता का नाश नहीं होता, जड़ता में आबद्ध हो गये हैं। यह सभी बातें आपके जीवन में क्यों मालूम होती हैं?

एक ही बात से कि जो मौजूद है वह आपको अपना नहीं मालूम होता है। इस भूल के रहते हुए आप बलपूर्वक कितना ही तो तप कीजिये, कितना ही अध्ययन कीजिये। आपका किया हुआ तप, आपका किया हुआ अध्ययन आप में एक मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करेगा। क्यों? मूल में भूल है यों। मानव-सेवा-संघ ने यह नहीं कहा कि आप तप न करें, कि आप अध्ययन न करें। या तप की कोई निन्दा की हो या खण्डन किया हो, या अध्ययन का खण्डन किया हो—यह नहीं कहा, पर यह अवश्य कहा कि जो मिला है यदि उसको आप अपना मानेंगे और उसको अपना मान कर उसके द्वारा जो कुछ करेंगे, उससे आपकी माँग पूरी नहीं होगी। उससे आप मिथ्या-अभिमान में आबद्ध होंगे। और जहाँ अभिमान आ जाता है वहाँ अनेक प्रकार के दोष स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।

इसलिए जो मिला है उसके द्वारा आप अपने लिए कुछ नहीं कर सकते। उसके द्वारा तो आप विश्वभगवान् की सेवा कर सकते हैं, चाहे किसी भी नाते कीजिए। किन्तु सेवा ही उसके द्वारा कर सकते हैं। अपने काम आपको जो मिला है, वह नहीं आ सकता। इस बात पर यदि आप गम्भीरता पूर्वक विचार कर लें, और यह बात आपकी बात मालूम हो, ऐसा अनुभव हो कि यह तो मेरा ही ज्ञान है, यह तो मेरा ही सत्य है। तो आप बड़ी ही सुगमता पूर्वक ममता से, कामना से, तादात्म्य से रहित हो सकते हैं। ममता, कामना, तादात्म्य के मिटाने के लिये किसी भी श्रम-साध्य साधन की आवश्यकता नहीं होती।

परन्तु यह रहस्य कोई विरले ही विचारशील जान पाते हैं। नहीं तो लोग ऐसा ही सोचते हैं कि हम विधिवत् शास्त्रों का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक भला कैसे ममता, कामना, तादात्म्य का नाश हो पायेगा ! लेकिन शास्त्रों के अध्ययन करने के बाद भी—जिन्होंने किया है, उनसे जरा मिलिये और उनसे यह कहिए कि जरा, ईमानदारी से अपनी दशा तो बतादो। तो मैंने ऐसा सुना है कि लोग यह कहते हैं कि हम क्या बतायें ! सब कुछ पढ़ने के बाद भी समस्या हल नहीं हुई।

एक बार मैं काशी में ठहरा हुआ था। तो एक शास्त्री मेरे पास आये। और उन्होंने कहा कि महाराज ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपके विचार से, आपके मत से सृष्टि का स्वरूप क्या है ? मैंने कहा कि पंडित जी ! आप जितना पढ़े हो उतना तो मैं बीस वर्ष में भी नहीं पढ़ पाऊँगा। और आप मुझसे पूछते हैं कि मेरे मत से सृष्टि का स्वरूप क्या है ? बोले, स्वामी जी ! मैं सच कहता हूँ कि मैं इस विषय पर अनेकों व्याख्यान दे सकता हूँ, विवाद कर सकता हूँ, परन्तु मेरा समाधान नहीं है कि वास्तव में सृष्टि का स्वरूप क्या है ! यह दशा होती है अध्ययन की। क्यों होती है ?

इसमें एक रहस्य है। और वह रहस्य यह है कि आप जो कुछ अध्ययन करेंगे उसकी पहुँच बुद्धि तक है। यानी अध्ययन करने से आपकी बुद्धि सुन्दर बनती है, सबल बनती है। लेकिन सम होती है क्या ? आप विचार करें। अध्ययन-मात्र से बुद्धि सम होती है क्या ? बुद्धि सम होती है—निष्काम होने से, निर्मम होने से। अध्ययन से सम नहीं होती। अब आप सोचिये, आप बिना अध्ययन के यह अनुभव करते ही हैं कि मिली हुई

वस्तु मेरी नहीं है। और आपने ममता का त्याग कर दिया, तो क्या आपकी बुद्धि सम नहीं होगी ? अवश्य होगी। और जब बुद्धि सम होगी, तब क्या विचार का उदय नहीं होगा? अवश्य होगा। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी ? प्रीति की जागृति नहीं होगी ? अवश्य होगी।

इसलिये मेरा यह निवेदन है कि जब आप अपने जाने हुये असत् का त्याग कर देते हैं, तब आप बड़ी ही सुगमतापूर्वक अकर्त्तव्य से रहित होते हैं, असाधन से, समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। और अकर्त्तव्य से रहित होते ही जीवन में कर्त्तव्य-परायणता आती है। असाधन से रहित जीवन में साधन-परायणता आती है। आसक्तियों से रहित होते ही जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य यह निकला कि प्रत्येक भाई और प्रत्येक बहन अपने ही द्वारा अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं। कब ? जब जाने हुए असत् का त्याग करें तब।

आज साधक-समाज के लिये अपने जाने हुये असत् का त्याग हो गया दुर्लभ। तब दूसरों के बताये असत् का त्याग कर पायेंगे आप ? जब आप अपने ही जाने हुये असत् का त्याग नहीं कर सकते, तब किसी आचार्य ने कह दिया, किसी ग्रन्थ में लिख दिया, किसी ग्रन्थकार ने लिख दिया कि भाई। यह तो असत् है, इसका त्याग करो। तो अपने जाने हुये असत् का तो त्याग न करो, तब ग्रन्थ में पढ़े हुये असत् का त्याग आप कर पायेंगे ? यह आप अपने से पूछिये। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि यदि आप ग्रन्थ में बताये हुये असत् का त्याग कर दें। प्रयोजन तो केवल असत् के त्याग से है। किन्तु यदि आप गम्भीरता से विचार करेंगे तो अपने जाने हुये असत् का त्याग

अपने को जितना सुगम होगा, उतना दूसरों के बताये हुए असत् का त्याग सुगम नहीं होगा।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में इस बात पर बहुत ही ज्यादा जोर डाला है कि आप अपने जीवन में से जाने हुये असत् का त्याग कर दें। अथवा आप अपने सम्बन्ध में विचार करें। आपको स्वत: असत् का ज्ञान होगा। और सच पूछिये तो ज्ञान असत् का ही होता है, सत् की तो प्राप्ति होती है। देखिये, आप जिसको जानते हैं उसे उससे असंग होकर जानते हैं। और आपको जो प्राप्त होता है, वह उससे अभिन्न होकर होता है। प्राप्ति में अभिन्नता, अनुभूति में असंगता हेतु है। तो आप असत् को जान सकते हैं, असत् को जानते भी हैं। और सत् को प्राप्त कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं हैं।

परन्तु जब तक आप यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में जो भूल है, वह किसी दूसरे के द्वारा मिटेगी, तब तक भूल रहती ही है। और जब आप यह सोचते हैं कि हमारे जीवन में क्या भूल है ! देखने का प्रयास आप करते हैं, तब आपको भूल का ज्ञान भी होता है और भूल के ज्ञान-मात्र से भूल का नाश भी होता है। और आप भूल-रहित होकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक जीवन की वास्तविकता को प्राप्त करते हैं। अर्थात् आपको परम प्रेम की प्राप्ति होती है। चाहे ऐसा कह दो कि प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है। और चाहे ऐसा कह दो कि आपको प्रेम की प्राप्ति भी होती है, स्वाधीनता की प्राप्ति भी होती है, परम शान्ति की प्राप्ति भी होती है,दु:खों की निवृत्ति भी होती है। चाहे इन चारों बातों को सामने रखकर कह दो। और चाहे ऐसा कह

दो कि भाई ! प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है ।

क्यों ? दुःख का नाश हो भी जाय, शान्ति मिल भी जाय, स्वाधीनता मिल भी जाय, और आपके जीवन में यह अहम् बना रहे कि "मैं शान्त हूँ", "मैं स्वाधीन हूँ।" तो यह तो बताओ कि आज तुम शान्त हो, स्वाधीन हो, तो दुःखी कौन था ? तो दुःखी भी मैं ही था । अगर तुम फिर दुःखी हो गये, तब क्या करोगे ? विचार तो करो । इसका उपाय क्या है ? न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी । न अहम् रहे, न दुःखी होने का भय रहे, न पराधीन होने का भय रहे । अब आपको यह भ्रम होगा कि जब हमी नहीं रहे, तब रहा क्या ! ,कि भाई; रहा वह जो "है" । क्या है ? "है" और उसकी प्रियता । बहुत गम्भीरता से विचार कीजिये । "है" और उसकी प्रियता है । तो वह जो आपका अहम् है; वह प्रियता में परिणत होगा ।

देखिए, यह जो तत्त्व-दृष्टि से बताया जाता है कि सीता राम हैं, राधा कृष्ण हैं, गौरी शिव हैं, इसका क्या मतलब ? शिव की प्रियता ही तो गौरी हैं। राम की प्रियता ही तो सीता हैं । कृष्ण की प्रियता ही तो राधा हैं । आप विचार करके देखेंगे, तो गुरु-तत्त्व क्या है ? गुरु-तत्त्व भी तो साध्य की प्रियता ही है । मानव-सेवा-संघ की भाषा में जिसे साधन-तत्त्व कहा है, सन्त-मत में उसे गुरु-तत्त्व कहा है, वैष्णव मत में उसे राधा तत्त्व, गौरी-तत्त्व, सीता-तत्त्व कहा है । और आप जानते हैं ? प्रियता से प्रियतम को रस मिलता है ! रस मिलता है !! प्रियता प्रियतम के लिए उपयोगी है । प्रियता प्रियतम से अभिन्न है, भिन्न नहीं है । तो इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि शान्ति, स्वाधीनता ये भूमि है प्रियता की ।

अगर आप शान्ति में रमण करते रहे, स्वाधीनता में सन्तुष्ट होते रहे, तो प्रियता जाग्रत नहीं होगी। स्वाधीनता में रति—इसका मतलब क्या ? 'स्व' में रति। यह भी तो प्रियता का ही रूपान्तर है। तो तात्पर्य क्या निकला ? कि आपका जो अस्तित्व था; वह किसी की प्रीति हो गया। प्रीति में अपना कुछ नहीं होता। प्रीति में जो कुछ होता है, वह प्रियतम का ही होता है। अर्थात् प्रीति प्रियतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं। तो आप मानव होने के नाते उस प्रियतम के स्वभाव से अभिन्न हो सकते हैं; और इसी परिस्थिति में हो सकते हैं और स्वाधीनता पूर्वक हो सकते हैं।

कब ? जब इस बात को मान लें कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। इस बात को मानते ही असंगता प्राप्त होती है। असंगता के आते ही परिच्छिन्नता नाश होती है, पराधीनता नाश होती है। किन्तु पराधीनता से पीड़ित प्राणी का जब स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होता है, तब वह यह भूल जाता है और उसका भोग करने लग जाता है। यह जो आवाज है कि "मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं शुद्ध हूँ", "मैं बुद्ध हूँ" "मैं बुद्ध हूँ"—यह आवाज क्या है ? यह पराधीनता के अन्त के बाद पहली आवाज है, पहली आवाज है। इसी आवाज को सिद्धान्त मत मान लो, साधन मान लो। यह साधन है। यह साध्य नहीं है। तो साध्य क्या है ? अगाध प्रियता, अनन्त प्रियता, नित्य प्रियता। आप जानते हैं ! कि जिज्ञासा की पूर्ति होती है, कामना की निवृत्ति होती है। किन्तु प्रियता की न तो निवृत्ति होती है, न पूर्ति होती है और न कोई क्षति होती है।

आप सोचिये, जिसकी क्षति नहीं, जिसकी निवृत्ति नहीं उसे क्या आप असत् कह सकते हैं ? उसे असत् नहीं कहते। उसे आप अभावयुक्त नहीं कह सकते। उसे आप अधार्मिक नहीं कह सकते। जिसकी पूर्ति नहीं, उसे आप क्या सीमित कह सकते हैं? सीमित नहीं कह सकते। तो प्रीति भावरूप है, असीम है, चिन्मय है, नित्य है और अनन्त को रस देने में समर्थ है। और प्रत्येक भाई की, प्रत्येक बहन की जो एकता होती है अभिन्नता होती है, वह प्रीति के ही साथ होती है। चाहे वह प्रीति विश्व-प्रेम के रूप में आपको भासित हो, आत्म-रति के रूप में भासित हो, अथवा प्रभु-प्रेम के रूप में भासित हो।

किन्तु प्रीति स्वभाव से विभु है, सीमित नहीं है। नित्य है, अनित्य नहीं है। चिन्मय है, जड़ नहीं है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। और वह प्रेम निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से ही साध्य है। और निष्कामता, निर्ममता और आत्मीयता असत् के त्याग में ही निहित है।

❀ हरि ओ३म् ❀

२५

वस्तुओं के दुरुपयोग का अर्थ है कि उनको व्यक्तियों की सेवा में न लगाया जाय।

वस्तुओं के सदुपयोग का अर्थ है कि उनको व्यक्तियों की सेवा में लगा दिया जाय।

सेवा का क्रियात्मक रूप कितना ही अल्प हो अथवा विभु हो, उसके फल में कोई अन्तर नहीं है।

कर्म जिस सीमा का होता है, उसका फल भी उसी सीमा का होता है। परन्तु सेवा अल्प हो अथवा विशेष, उसका फल है—निर्विकार हो जाना, निष्काम हो जाना, स्वाधीन हो जाना, और प्रियता की जागृति होना।

त्याग का भी यही फल होता है, और आत्मीयता का भी यही फल होता है।

श्रीकृष्ण का प्रेम ही मूर्तिमान् राधा हैं। सन्त-मत के अनुसार साध्य की अगाध प्रियता ही गुरु-तत्व है। साधक की उसी से अभिन्नता होती है। प्रेम का रस अनन्त होता है।

जहाँ दो नदियों का संगम होता है, वहाँ किसी प्रकार का भेद नहीं है। जल ही जल है दोनों ओर। जातीय एकता भी है और स्वरूप की एकता भी है; फिर भी नित-नव गति है।

— — —

२५

अ

प्रवचन :

सच बात तो यह है कि कोई भी ऐसी नई बात जिसे आप नहीं जानते हैं, नहीं बता सकता। कारण क्या है कि प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में जो श्रद्धा है, जो आस्था है, जो क्रियाशीलता है, उसी के द्वारा उसका विकास है। हम सब जब यह जानते ही हैं कि किसी भी वस्तु, दशा या परिस्थिति के आश्रय से जीवन में स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती, तो फिर वस्तुओं के साथ, व्यक्तियों के साथ जो तादाम्त्य है, उससे क्या मिल सकता है ! यह बात अलग रही कि हम वस्तुओं के सदुपयोग से, तथा व्यक्तियों की सेवा से, परिस्थितियों के सदुपयोग से अपने को उपयोगी बनायें। किन्तु वस्तुओं से हम उपयोगी होंगे—यह भूल है।

सदुपयोग का अर्थ क्या है ? सदुपयोग का अर्थ है—वस्तुओं का दुरुपयोग न करना। वस्तुओं का दुरुपयोग क्या है? इस पर आप विचार करें, तो मालूम होगा कि जो वस्तु व्यक्तियों की सेवा में व्यय नहीं होती, वह उसका दुरुपयोग है। अर्थात् वस्तु

व्यक्तियों के लिये है। किन्तु व्यक्ति यदि विवेकी नहीं है, सत्य का जिज्ञासु नहीं है, तो उस व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। क्यों ? विवेक-शून्य जीवन मानव-जीवन नहीं है। अब विवेक का अर्थ क्या है ? आप जानते हैं कि क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति अथवा स्थिरता–ये अवस्थायें हैं। प्राकृतिक विधान से अपने आप आती हैं। इन अवस्थाओं के तादात्म्य से हम अपने को परिच्छिन्नता में आबद्ध करते हैं।

अवस्थायें प्राकृतिक हैं। तादात्म्य भूल-जनित है। और अपनी भूल मिटाने का दायित्व ही अपने पर है। और इसी का नाम 'सत्संग' है। तो जो अवस्था प्राप्त है, उससे यदि असंगता का अनुभव हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक समता के साम्राज्य में हम सबका प्रवेश हो सकता है। अर्थात् समता अवस्थाओं से असंग होने में है। आप चाहो तो, न चाहो तो, अवस्थायें अपने आप बदल जाती हैं, सदैव नहीं रहतीं। किन्तु जीवन की माँग अविनाशी की है। हम सदैव रहें–यह जीवन की माँग है। तो इस माँग की पूर्ति के लिये अवस्थाओं से असंग होना आवश्यक है।

अवस्थाओं से असंग होने के लिये सबसे सुगम-सहज और स्वाभाविक उपाय यही मालूम होता है कि जिस अवस्था का आपको भास है, प्रतीति है, उससे विमुख होकर अनुभव करें, कि क्या है ? जैसे किसी पौधे को आप उगता हुआ देखते हैं, फूलता-फलता हुआ देखते हैं, किन्तु उसी पौधे का अभाव भी देखते है। उसी प्रकार आप अपने व्यक्तित्व में क्रियाशीलता भी देखते हैं और स्थिरता भी देखते हैं। अथवा यों कहिये कि चिन्तन - रहित दशा भी देखते हैं। तो जो चीज देखने

में आती है, वह देखने वाले से भिन्न होती है। और जिसके द्वारा देखने में आती है, वह भी वास्तव में दृश्य ही है।

इस दृष्टि से अगर आप सोचेंगे, तो समस्त अन्तः-बाह्य करण दोनों करण—बाह्यकरण भी और अन्तःकरण भी—चाहे शरीर-इन्द्रिय आदि कहो, चाहे मन-बुद्धि आदि कहो, ये दोनों ही करण आपको प्राप्त हैं। और जब आप संकल्प पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करते हैं, तब आपका सम्बन्ध इन करणों से होता है, इन साधनों से होता है। और इस सीमा तक सम्बन्ध हो जाता है कि इन साधनों में और अपने में यानी जो साधन हैं कार्य करने के उनमें और अपने में विभाजन ही नहीं कर पाते। और जब मिले हुए साधनों में और अपने में विभाजन नहीं कर पाते, तब व्यक्तित्व को ही "मैं" मान लेते हैं कि शरीर के रूप में, इन्द्रियों के रूप में जो कुछ है, यही "मैं" हूँ।

इस भूल का परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व के साथ एकता का अनुभव करने पर किसी-न-किसी प्रकार की कामना का जन्म हो जाता है। और जब कामना का जन्म हो जाता है तब उसकी पूर्ति में जो सुख-दुःख है, उसमें आबद्ध हो जाते हैं। तो बन्धन क्या है? सुख-दुःख में आबद्ध होना—यही तो बन्धन है। इस बन्धन से मुक्त होने के लिये उपाय क्या है? अपने में और जो करण आपको प्राप्त हैं, उनमें विभाजन स्वीकार करें, और अपने ही द्वारा स्वीकार करें। जिसे आप मेरा करके अनुभव करते हैं, उसे 'मैं' करके स्वीकार न करें। जब 'मेरे' को 'मैं' करके स्वीकार नहीं करते, तब "मैं" क्या है?' यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। "यह" "मैं" नहीं है—यह तो आपका अनुभव है।

परन्तु "मैं" क्या हूँ ?"—यह आपका अनुभव नहीं है। यह आपकी जिज्ञासा है !

तो इस जिज्ञासा की पूर्ति कैसे होती है ? निष्कामता से, निर्ममता से, असंगता से। तो असंगता साधन है "मैं" की वास्तविकता के बोध में। अब "मैं" का बोध किसके द्वारा होगा ? तो किसी करण की अपेक्षा से नहीं होगा, और न किसी आस्था से होगा। आस्था के आधार पर "मैं" का निर्णय करते हैं तो वह आपका बोध नहीं होता। यह और बात है कि विकल्प-रहित आस्था बोध जैसी मालूम पड़े। जिसे आप स्वीकार कर लेते हैं, वह आपकी स्वीकृति है, बोध नहीं है। तो प्रतीति के आधार पर और स्वीकृतियों के आधार पर "मैं" का बोध नहीं होता। "मैं क्या है ?"–इसका अनुभव नहीं है। किन्तु "प्रतीति और स्वीकृति" "मैं" नहीं है–यह अनुभव है। जब प्रतीति के साथ हमारा तादात्म्य नही रहता,और स्वीकृति में जब हमारी अहम्-बुद्धि नहीं रहती, तब निर्विकारता और विश्राम-ये आपको प्राप्त होते हैं। आप श्रम-रहित होते हैं और विकार-रहित होते हैं।

श्रम-रहित होने से, और विकार-रहित होने से जिस जीवन में प्रवेश होता है, अथवा जिस जीवन के साथ अभिन्नता होती है, वही वास्तविक जीवन है। आज हम उस जीवन से निराश हो गये हैं। और यह सोचने लगे हैं कि भला, हम साधारण मानव को उस जीवन की प्राप्ति कैसे हो सकती है ! आप विचार तो कीजिये, भूख किसी को लगी हो और भोजन किसी को मिले ? यह सम्भव है क्या ? आपको मानना ही

पड़ेगा कि जिसको भूख लगती है, वही भोजन करता है। अतः जिसमें आवश्यकता है, उसी की माँग पूरी होती है। आवश्यकता तो हो हम में, और माँग पूरी किसी और की हो ? ऐसा विधान नहीं हो सकता।

इस कारण हम सबको अपने में से यह भ्रमात्मक धारणा सदा के लिए निकाल देनी चाहिए कि वह जीवन जो प्रतीति व स्वीकृति से परे है, हमें नहीं मिल सकता। अवश्य मिल सकता है। कैसे ? निर्विकारता और विश्राम से। यह निर्विकारता और विश्राम साधन हुआ, साध्य नहीं हुआ। यदि कोई कहे निर्विकारता ही जीवन है, विश्राम ही जीवन है—ऐसा नहीं। यह निर्विकारता और विश्राम उस जीवन का साधन है, जीवन नहीं है। क्यों ? यदि आप निर्विकारता और विश्राम को ही जीवन मान लेंगे, तो पर-प्रकाश्य वस्तुओं में बताइये, कहाँ विकार है ? कहाँ श्रम है ? एक पत्थर के टुकड़े को कहाँ मालूम होता है कि मैं श्रमित हूँ ? कहाँ अनुभव होता है कि उसमें कोई विकार है ? तो निर्विकारता और विश्राम जीवन नहीं है।

निर्विकारता और विश्राम से जीवन की अभिव्यक्ति होती है। तो अपना प्रयास कहाँ तक चला ? जहाँ तक निर्विकारता और विश्राम प्राप्त नहीं हैं। अब आप सोचिये कि निर्विकारता प्राप्त करने के लिए निर्ममता, निष्कामता और असंगता के सिवाय और कोई भी उपाय मालूम नहीं होता। आप इस बात को एक बार सुनकर मान लें, अनेक बार सुनकर मान लें। किन्तु यदि जीवन में निर्विकारता की माँग है, तो

निर्ममता, निष्कामता और असंगता प्राप्त करनी ही होगी। और इनमें से किसी भी एक की प्राप्ति से—जैसे यदि आपने निर्ममता प्राप्त कर ली, तो निष्कामता की शक्ति आयेगी, निष्कामता प्राप्त कर ली, तो असंगता की शक्ति आयेगी। परन्तु जिस समय निर्ममता आपको प्राप्त हो, उस समय "मैं निर्मम हो गया"—अगर ऐसा आपने गुणों का आरोप कर लिया अपने में, तो निष्काम होना कठिन हो जायेगा। कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा।

तो निर्ममता अपनाना है, किन्तु "मैं निर्मम हूँ"—इस प्रकार अपने में आरोप नहीं करना है। ऐसे ही निष्काम होना है, पर "मैं निष्काम हूँ"—ऐसा आरोप नहीं करना है। इतना ही नहीं, निर्ममता-जनित जो निर्विकारता है और निष्कामता से उदित जो शान्ति है, उसमें भी रमण नहीं करेंगे, तब असंगता प्राप्त होगी। असंगता का मतलब क्या है ? किसी गुण और दोष के आश्रित जो हम अपने को जीवित रखते हैं, यही असंगता में बाधक है। तो दोषों की तो उत्पत्ति न हो, और गुणों का भोग न हो। देखिये, भोग का अर्थ क्या है ? पराश्रय द्वारा अपने को सन्तुष्ट करने का प्रयास। इसी का नाम भोग है। जब हम पराश्रय से अपने को सन्तुष्ट नहीं करते हैं, तब भोग का नाश होता है और योग की प्राप्ति होती है।

योग हमें पराधीनता से स्वाधीनता की ओर अग्रसर करता है। और भोग हमें स्वाधीनता से पराधीनता की ओर ले जाता है। किसी अन्य के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है—यह जो भ्रान्ति है, यह जो प्रलोभन है, इसी का परिणाम

है—योग से विमुख होना। तो क्या हमारे द्वारा किसी को कुछ मिल सकता है ? इस सम्बन्ध में जब आप विचार करेंगे तो आपको यह विदित होगा कि जब हम मिले हुए को अपना नहीं मानते, उस पर अधिकार नहीं रखते, उसका दुरुपयोग नहीं करते, तब उस मिले हुये के द्वारा विश्व की सेवा होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि आप विश्व को कोई ऐसी वस्तु देते हैं जो आपकी है। यह इसका अर्थ नहीं है। सेवा का अर्थ है यह कभी नहीं होता कि हम जिसकी सेवा करते हैं, उसे कुछ देते हैं।

सेवा का अर्थ ही इतना है कि उसकी धरोहर जो अपने पास है, वह उसे भेंट करते हैं। यानी जिसकी जो वस्तु है, उसी को उसे दे देना—इसका नाम सेवा है। आप अपनी ओर से कुछ नहीं देते। क्यों जो मिला है, उसी से न ! सेवा करते हैं। तो जब मिले हुये के द्वारा सेवा होती है, तो फिर आपने अपना क्या दिया ? जब तक आपको यह मालूम हो कि हम अपनी वस्तु के द्वारा, अपनी योग्यता के द्वारा, अपनी सामर्थ्य के द्वारा सेवा करते हैं, तब तक तो यह समझना चाहिये कि सेवा का आरम्भ ही नहीं हुआ है। आप विचार करें। अपनी वस्तु है क्या ? यदि आपकी वस्तु होती, तो आपके लिये उपयोगी होती।

तो जब मिली हुई वस्तु आपके लिये उपयोगी नहीं है, तब आप कैसे कह सकते हैं कि वस्तु आपकी है ? हाँ आपको मिली है। किसने दी है, उसे आप भले ही न जानते हों, पर यह तो आप जानते ही हैं कि मिली हुई वस्तु आपकी नहीं है।

किसी ने मान लिया कि प्रभु ने दी है। किसी ने मान लिया कि शायद वैसे ही अनायास मिल गई है। किसी ने मान लिया कि मालूम होता है कि हमारे पास कुछ है, पर है नहीं। कोई भी दृष्टिकोण हो, परन्तु यह तो सभी दृष्टियों से सिद्ध है कि जो मिला है, वह आपका तो नहीं है। और उसी के द्वारा आप सेवा करते हैं। किन्तु आपके जीवन में पर-पीड़ा नहीं है, तो आप सेवा नहीं कर सकते।

सेवा करने के लिए पर-पीड़ा को अपनाना अनिवार्य होता है। आप कहेंगे कि हम अपनी ही पीड़ा से पीड़ित हैं, हमें कहाँ अवसर मिलता है कि हम पर-पीड़ा को अपनायें ! आप अपनी पीड़ा से तभी तक पीड़ित हैं, जब तक आप पर-पीड़ा को नहीं अपनाते। यह नियम है कि जो पराये दुःख से दुःखी नहीं होता, उसे अपने दुःख से दुःखी होना ही पड़ता है। तो यदि आप अपने दुःख से बचना चाहते हैं तो उसका बाह्य उपाय है—पर-पीड़ा को अपनाना। अर्थात् हमें दूसरों का दुःख अपना दुःख मालूम हो। ऐसा आप कहें कि यह कैसे सम्भव होता है ? भाई, जिनको आप अपना मानते हैं, उनके दुःख से आप दुःखी होते हैं कि नहीं ?

अगर किसी की गाड़ी फँस गई हो, तो फँस रही है गाड़ी और दुःखी है वह स्वयं। क्यों ? यह ममता का प्रभाव है। ममता जिसके प्रति होती है, उसके दुःख से दुःखी कर देती है। जब ममता का यह प्रभाव है, तब सर्वात्म-भाव का कितना प्रभाव होगा ! आज हम सभी को अपना नहीं मानते हैं, उसका यह परिणाम है कि सेवा करना हमारे लिये कठिन सा हो गया

है। भार-सा हो गया है। इतना ही नहीं, असम्भव-सा हो गया है। आप कहें कि अपना बिना माने भी हम सेवा तो करते ही हैं। जैसे कोई खेत में दाना बोये, तो खेत की सेवा करता है या कि खेत से सेवा लेता है? अगर आप विचार करेंगे, तो आपको मानना पड़ेगा कि खेत से सेवा लेते हैं, खेत की सेवा करते नहीं हैं। उसी प्रकार जब आप किसी वस्तु को अपना मानकर किसी की सेवा करते हैं, और आप इस बात को जानते हैं कि दूसरों को दिया हुआ, कई गुना अधिक होकर मिलता है। तो यह सेवा करना है, कि व्यापार करना है? आप विचार कीजिये।

सेवा तो तब न! होगी, जब आप इस बात को स्वीकार करें कि जिन वस्तुओं के द्वारा हम सेवा कर रहे हैं, और जिनकी सेवा कर रहे हैं, या तो वे वस्तुयें उन्हीं की हैं, अथवा वे अपने ही हैं। तो अपने हाथ से अपना मुँह धोने पर किसी को सेवा थोड़े ही मालूम होती है! सेवा में भिन्नता वास्तव में नहीं है। सेवा में अपना करके अपना कुछ नहीं है। तब तो सेवा बनती है, नहीं तो नहीं बनती। और जब तक आप सेवा नहीं करते, तब तक न तो आप परिवार के लिये उपयोगी होते हैं और न संसार के लिए उपयोगी होते हैं। परिवार के लिए भी जीवन तभी उपयोगी होता है, जब आप परिवार की सेवा करें। और कहीं परिवार से सुख की आशा करें? तब तो हम बिना ही जंजीरों के ऐसी मजबूती से बँध जाते हैं कि सुख भी नहीं मिलता, और क्षोभ-क्रोध और भोगता पड़ता है।

इसलिए सेवा का क्रियात्मक रूप कितना ही अल्प हो, अथवा अधिक हो, उसमें कोई अन्तर नहीं है, फल में कोई अन्तर नहीं है। बहुत-से लोग सोचते होंगे कि बड़ी-बड़ी सेवा करने से बड़ा-बड़ा फल मिलता होगा और छोटी-छोटी सेवा करने से छोटा-छोटा फल बनता होगा। सो नहीं होता। कर्म का यह विधान है कि जिस सीमा का कर्म होगा, उस सीमा का फल बनेगा। किन्तु सेवा का यह विधान नहीं है। सेवा अल्प हो अथवा अधिक हो, उसका फल क्या है? सेवा का फल ही है—निर्विकार हो जाना, निष्काम हो जाना, स्वाधीन हो जाना, प्रियता की जागृति हो जाना। यह सेवा का फल है। और यही त्याग का भी फल है।

देखिए, जो चीज सेवा से मिलती है, वही चीज त्याग से मिलती है। और यही आत्मीयता का भी फल है। तीनों के फल में कोई भेद नहीं है। चाहे आप सेवा करें, चाहे आप त्याग अपनायें, चाहे आप आत्मीयता स्वीकार करें। आत्मीयता से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। त्याग से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। सेवा से भी आपको प्रेम की प्राप्ति होगी। आपको जो मिलने वाली चीज है, वह है—प्रेम। आप प्रेम से अभिन्न होंगे। अब आप सोचिये कि यदि आपको प्रेम की प्राप्ति हो गई, अर्थात् आपके जीवन में प्रेम की अभिव्यक्ति हो गई, प्रेम से भिन्न आपका कोई अस्तित्व नहीं रहा, तो फिर वह चाहे जिसके प्रति हो, उसके लिए भी रस-रूप होगा, आपके लिए भी रस-रूप होगा।

इससे क्या सिद्ध हुआ? कि आपको प्रेम की प्राप्ति करना है। यह बात आप अपने सामने रखें कि हमको तो प्रेम

प्राप्त होना है, और कोई वस्तु हमको मिल नहीं सकती। क्यों? जब कोई आपके काम आता है, तब आपके जीवन में उसका महत्त्व होता है,जो आपके काम आता है। आपका अपना महत्त्व क्या रह जाता है ? आपका अपना मूल्य क्या रह जाता है ? आप विचार तो करें।

२५

ब

बहुत गम्भीरता से विचार करें। अगर किसी को आज्ञाकारी पुत्र मिल गया, मधुर-भाषिणी सेवापरायण पत्नी मिल गई, और अच्छे-अच्छे सम्बन्धी मिल गये, तो उनके मिलने से, आप बताइये, आपको क्या मिला ? केवल यही मिला कि आप निरन्तर उन्हीं के चिन्तन में आबद्ध हो जायेंगे। आप अपने जीवन में अनुभव करके देख लीजिये। जो आपके काम आता है; उसके चिन्तन में आप आबद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, यहाँ जो लोग आये हैं, और जिनके साथ अमुक भाई ने बहुत अच्छा व्यवहार किया है, उनके मन में क्या बात उठेगी ? ये हमारे यहाँ आयें, और हम उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।

आप अनुभव करके देखें। जो आपके साथ भलाई करता है, वही आप पर अधिकार करता है। यानी आप बिवश होते हैं उसके अधीन होने को। किन्तु यदि आपके जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाय, तो आप ही बताइये, प्रेमी कभी पराधीन रहता है क्या ? प्रेमी के जीवन में कभी भिन्नता आती है क्या ? प्रेमी के जीवन में कभी गैरियत आती है क्या ? प्रेमी

के जीवन में कभी नीरसता आती है क्या ? तो वह प्रेम तभी आपको प्राप्त होगा कि जब आप की हुई सेवा के द्वारा अपने को स्वाधीन बनायें, शान्त बनायें, निर्विकार बनायें। अगर आप शान्त नहीं हैं, स्वाधीन नहीं हैं, निर्विकार नहीं हैं तो प्रेम का प्रादुर्भाव सम्भव ही नहीं है।

आप सोचते होंगे कि किसी श्रम-साध्य साधन से प्रेम की प्राप्ति होती है। श्रम करने से 'करने' में आसक्ति होती है। करने की आसक्ति का नाम प्रेम नहीं है। करने की आसक्ति शरीर से तादात्म्य जोड़ देती है, शरीर में आबद्ध कर देती है। शरीर का न रहना आपके लिए असह्य दुःख बन जाता है। और यह तो आप जानते ही हैं कि शरीर रहेगा ही नहीं। तो 'करने' से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। प्रेम की प्राप्ति तो एक-मात्र त्याग से होती है, सेवा से होती है, आत्मीयता से होती है। और सेवा, त्याग तथा आत्मीयता में आप सदैव स्वाधीन हैं। आप सभी को अपना मान सकते हैं, प्रभु को अपना मान सकते हैं। आप निर्मम और निष्काम हो सकते हैं।

आप मिली हुई वस्तु को समर्पित कर सकते हैं। आप विचार करके देखें। जिसके करने में आप सदैव स्वाधीन हैं, और जिसके करने से 'करने' का अन्त होता है—यह बड़े रहस्य की बात है—जो करना 'करने' में ही बदलता रहे, वह करना निरर्थक है। और जिस 'करने' का अन्त हो जाय ! अच्छा भाई, त्याग एक बार करना पड़ेगा कि अनेक बार ? क्या विचार हैं आपका ? एक बार त्याग करने से 'करने' का अन्त हुआ कि नहीं ? अच्छा, जो कुछ प्राप्त है, उसका समर्पण एक बार

करना पड़ेगा कि अनेक बार ? तो सेवा से 'करने' का अन्त हो गया न !

ऐसे ही जिसमें आपने आत्मीयता स्वीकार की, जिसको आपने अपना स्वीकार किया, यह एक बार स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेक बार ? इससे क्या सिद्ध हुआ ? करना वही सार्थक है जिससे 'करने' का अन्त हो। अच्छा भाई, सुख की आशा को लेकर की हुई प्रवृत्ति कभी नाश होती है क्या ? कि नवीन प्रवृत्ति को जन्म देती है ? आप विचार करके देखें। तो जो लोग यह सोचते हैं कि जो कुछ करते हैं, उसका कभी अन्त ही न हो, करना 'करने' में ही बदलता रहे। यह तो दशा आप देखते हैं कि सभी को सदैव प्राप्त है—बोलते हैं, बोलने का राग रखते हुए, पुनः बोलते हैं, सुनने का राग रखते हुए पुनः सुनते हैं।

जो कुछ आप करते हैं, 'करने' का राग रहने से पुनः करते हैं। तो करना 'करने' में ही बदलता रहता है, वह करना कर्त्तव्य नहीं है। जो करना सदा के लिए समाप्त होता है; और उसके परिणाम में आपको परम शान्ति, स्वाधीनता, और प्रेम की प्राप्ति होती है, वही कर्त्तव्य है। तो सदैव रहने वाली चीज शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम है कि कोई श्रमसाध्य साधन है ? आपको मानना पड़ेगा कि शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम ही आपका जीवन है। इसी से आपकी एकता है। और इसको मानव-सेवा-संघ की भाषा में 'साधन-तत्त्व' बताया। और मानव को "साधक" बताया।

साधन-तत्त्व का अर्थ है कि जिसमें समस्त साधन विलीन हो जायें। यानी भिन्न-भिन्न साधन जब एक में विलीन हो जाते हैं, उसको कहते हैं—साधन-तत्त्व। तो समस्त साधन किसमें विलीन होते हैं? तो मानना पड़ता है कि प्रेम की प्राप्ति में, प्रेम की जागृति में। तो 'प्रेम' हुआ साधन-तत्त्व। और वह किसको प्राप्त हुआ? साधक को। आप हैं साधक। कैसे प्राप्त हुआ? तो मानना पड़ता है कि सेवा से, त्याग से, आत्मीयता से। यदि आप सेवा-त्याग और आत्मीयता को अपना लेते हैं, तो आपको साधन-तत्त्व की प्राप्ति अवश्य होगी। वही साधन-तत्त्व आप जानते हैं क्या है? राधा-तत्त्व है, सीता-तत्त्व है, गौरी-तत्त्व है। ये साधन-तत्त्व के ही रूप हैं। वर्णन में भेद है, किन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं है।

आप सोचिये, किसी से पूछिये कि राधा क्या हैं? बोले—कृष्ण की अनन्य प्रियता। श्रीकृष्ण जिनको अत्यन्त प्यारे हैं। अथवा यों कहो कि श्रीकृष्ण का प्रेम ही मूर्तिमान राधा हैं। और बताइये, राधा क्या हैं? यही अर्थ सीता में लगेगा। यही अर्थ गौरी में लगेगा। यही अर्थ आप जानते हैं? गुरु-तत्त्व में भी लगेगा। जैसे सन्तमत में गुरु की महिमा गाई जाती है। गुरु के प्राप्त करने की बात कही जाती है। यानी गुरु-तत्त्व से अभिन्नता होती है। और वह गुरु-तत्त्व क्या है? साध्य की अगाध प्रियता। साध्य की प्रियता ही तो सिद्धि है। तो हमारा साध्य हमें प्यारा लगे, तो आप क्या हुये? आप प्रेम हुये कि साध्य हुये? क्या विचार है आपका? प्रेम हुये।

तो प्रेम की आपको प्राप्ति होगी या किसी अन्य की प्राप्ति होगी ? इसका अर्थ यह न लगा लीजिये कि साध्य और प्रेम एक वस्तु है। ऐसा भी लोगों ने कह दिया पर, बात ऐसी नहीं है। वह प्रेम साध्य का ही स्वभाव है। यह बात तो आप कह सकते हैं। और यह भी कह सकते हैं कि प्रेम दूरी, भेद और भिन्नता का नाशक है। जब दूरी नहीं रही, तो योग प्राप्त हो गया। जब भेद नहीं रहा, तो बोध प्राप्त हो गया, और जब भिन्नता न रही, तो अगाध प्रियता प्राप्त हो गई। तो अगाध प्रियता कहो, अथवा बोध कहो, अथवा योग कहो– ये प्रेम की विभूति हुई न ! यानी ये प्रेम का ही रूपान्तर हुआ न !

आप कहेंगे कि फिर योग, बोध, और प्रेम जब एक ही है, तो उसको प्रेम ही क्यों न कहा जाय ? यह तो आपकी अपनी रुचि की बात है। चाहे प्रेम कहो, चाहे योग कहो, चाहे बोध कहो। आप विचार कीजिये, कि योग में दूरी है क्या ? भेद रहता है क्या ? भिन्नता रहती है क्या ? आप लोगों में से बहुतों ने प्रयाग त्रिवेणी में स्नान किया होगा। प्रयाग में जब गंगा और यमुना का योग होता है, तो आगे चलकर नाम गंगा का और रूप यमुना का। आप देख लेना जाकर। भेद रहा क्या ? अब योग और बोध में कोई अन्तर हुआ क्या ? आप यह भी देखेंगे कि योग होने पर भी गंगा यमुना से, यमुना गंगा से मिलने के लिये सदैव आतुर है, गतिशील है। इसी का नाम प्रेम है। बोध में योग और प्रेम है और प्रेम में योग और बोध है। इसी का नाम सिद्धि है।

जब तक आपको यह मालूम हो कि योग अलग चीज है, बोध अलग चीज है प्रेम अलग चीज है, तब तक मानना पड़ेगा कि वह साधन-रूप योग है, साधन-रूप बोध है, और साधन-रूप प्रेम है। किन्तु जिस समय साध्य-रूप योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, तब इनमें विभाजन नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी रस में एक भेद है। योग का रस शान्ति-रस है। बोध का रस शान्ति के साथ-साथ अखण्ड है, और प्रेम का रस अखण्ड के साथ-साथ अनन्त है। जैसे आप देखेंगे; जहाँ संगम होता है, वहाँ कोई किसी प्रकार का भेद नहीं है। जल-जल है दोनों। देखिये जातीय एकता भी है, स्वरूप की एकता भी है। फिर भी नित-नव गति है कि नहीं।

इसी चीज को दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से वर्णन किया है। चीज कोई अलग नहीं है। चीज एक ही हैं। किसी ने कह दिया—हमें तो वास्तविकता का बोध हो गया, हम कृत-कृत्य हो गये। उनसे पूछा जाय कि उस बोध में तुम्हारी प्रियता है कि नहीं ? तो कहना पड़ेगा—है। क्यों ? यदि बोध में प्रियता न हो, तो आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। आनन्द की अभिव्यक्ति में मूल हेतु प्रियता है। किसी ने कह दिया कि हमें प्रेमास्पद की प्राप्ति हो गई। भला, बताओ तो सही, जिस प्रेमास्पद की आपको प्राप्ति हो गई, उसका आपको बोध है कि नहीं ? तो मानना पड़ेगा—है। तो प्रियता में बोध, बोध में प्रियता, मिलन में बोध, मिलन में प्रियता है।

किन्तु प्रियता एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि इसकी कभी पूर्ति नहीं होती, और पूर्ति न होने से ही अनन्त है, असीम

है। इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका कभी अन्त नहीं है, और नित-नव रस की अभिव्यक्ति है। यह प्रियता का सहज स्वभाव है। देखिए, आपकी प्रियता किसमें है—यह प्रश्न ही नहीं है। चाहे जिसमें हो। किन्तु प्रियता का मूल्य समान ही है। आप विचार करें, कि आप किसी से कहें कि हम आपसे प्रेम करते हैं, किन्तु हमारे पास जो कुछ है, वह तो हमारा है, तुम्हारा नहीं है। तो वह क्या कहेगा ? भाई, प्रेम करते हो कि धोखा देते हो ?

तात्पर्य क्या निकला ? जिसके आप प्रेमी हैं, उसको अपना सब कुछ देना पड़ता है। और किसी से आप कहें कि हम आपको प्रेम तो करते हैं, पर हमारी यह बात पूरी कर दो। तो वह क्या कहेगा ? प्रेम करते हो कि मेरा भोग करते हो ? प्रेम में काम नहीं है। प्रेम में अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। उसी को न ! प्रेम की प्राप्ति होती है। अब आप बताइये कि प्रेम का मूल्य क्या हुआ ? यानी यह जो आप सोचते हैं कि हमारा प्रेमास्पद सुन्दर होगा तो हम प्रेम करेंगे। तो इसके भीतर क्या ध्वनि निकलती है कि आप प्रेम के बहाने प्रेमास्पद का भोग करना चाहते हैं। तभी न ! आप कहते हैं कि वे कैसे हैं ?

जरा विचार तो कीजिये। यह जो लोगों का भ्रम है कि प्रभु कैसे हैं ? काम के हैं कि बेकाम के हैं ? तब हम उससे प्रेम करेंगे। तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप अपने सुख के लिये कुछ आशा रखते हैं। तब सोचते हैं कि वे कैसे हैं। यदि आप प्रेमी हैं, तो कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कैसे हैं। और

कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कहाँ हैं ! कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे क्या करते हैं ! चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, चाहे कुछ करें, अपने हैं और प्रिय हैं। यह है प्रेम की दीक्षा। अगर आप यह सोचते हैं कि हम देखेंगे, अच्छे लगते हैं कि नहीं। तो यह बात तो भोगी के जीवन की है, प्रेमी के जीवन की बात नहीं है।

तो क्या इसका अर्थ यह है कि प्रेमास्पद सुन्दर नहीं हैं ? इसका अर्थ यह नहीं है कि सुन्दर नहीं हैं। क्यों ? प्रेमी को तो प्रेमास्पद में नित-नव सुन्दरता का भास ही होता रहता है। नित-नव सुन्दरता का भास होता है—इसका अर्थ यह नहीं है कि वह इसलिए प्रेमी है कि वे सुन्दर हैं। इसका अर्थ यह है कि वह प्रेमी है, इसलिये प्रेमास्पद सुन्दर है। यह एक बड़ा रहस्य रहता है। यह जो प्रेमास्पद के वर्णन में प्रेमियों ने बड़ी-बड़ी महिमायें गाईं, और साधारण प्रेमी होने से पहले उस महिमा के कारण आकर्षित हुए। और अगर कल्पना करो कि कहीं सुने हुये के अनुसार महिमा न निकली, तो ? आप प्रेमी रहेंगे ? आप प्रेमी नहीं हो सकते।

मेरा निवेदन यह था कि प्रेमी होने के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं कि आप यह जानें कि हमारे प्रियतम कैसे हैं। इस बात की आवश्यकता नहीं है। क्यों ? अगर कैसे हैं—यह सोचकर आप प्रेमी होना चाहते हैं, तो प्रेमो नहीं हो सकते। क्यों ? प्रेमी क्यों नहीं हो सकते ? कि यह बात तो आप तब सोचेंगे, जब आपको प्रेमास्पद से कुछ लेना हो। जब हमें किसी से लेना होता है, तब हम सोचते हैं कि वे कैसे हैं।

और जब तक आपको कुछ लेना है, तब तक प्रेमियों की सूची में नाम लिखा जायेगा क्या ? जब तक आपको भोग चाहिए, मोक्ष चाहिये, जब तक तक आपको कुछ चाहिए, तब तक आप कैसे कह सकते हैं कि प्रेमियों की सूची में हमारा नाम लिखा जा सकता है ? नहीं लिखा जा सकता।

जिसे कुछ नहीं चाहिए—एक बात। और जिसको अपने पास अपना करके कुछ नहीं रखना है—दो बात। और मिलन में भी और वियोग में भी जिसके जीवन में नित-नव प्रियता है। यह नहीं कि मिलन-काल में तो प्रेम है, और वियोग में प्रेम नहीं है, या वियोग-काल में तो प्रेम है, और मिलन-काल में नहीं है। प्रेमी के जीवन पर जब आप विचार करेंगे, तो आपको ऐसा मानना ही पड़ेगा कि प्रेमी के लिए मिलन और वियोग का कुछ अर्थ ही नहीं रहता है।

इस सम्बन्ध में किसी प्रेमिका की बात है। एक कोई प्रेमिका थी। उसका जो प्रेमास्पद था, वह कहीं बाहर चला गया था। वह उसके वियोग में मरणासन्न हो गई। उसकी एक चतुर सखी थी। उसने कहा कि अरी बहन ! वे तो अभी तक नहीं आये, और तेरे जीवन की अन्तिम घड़ियाँ आ गईं अन्त मति सो गति, अब तेरी अन्तिम घड़ियाँ हैं, तो अब अन्त के समय पर उस जगदीश्वर, जगदाधार का ध्यान कर ! वह कहने लगी, "अच्छा ! वे नहीं आये ! अब ये प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे ! अच्छा बहन, मैं जगदीश्वर से प्रार्थना करती हूँ।" अब उसकी प्रार्थना सुनिये।

वह कहती है— "हे जगदीश्वर ! हे जगदाधार !! इस शरीर में जो पृथ्वी-तत्त्व है, वह उसी भूमि में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरे प्राणनाथ विचरते हैं । हे जगदीश्वर ! हे जगदाधार !! इस शरीर में जो जल-तत्त्व है, वह उस जल में जाकर मिल जाय, जो जल मेरे प्रियतम की सेवा में काम आता है । इस शरीर में जो अग्नि-तत्त्व है, उस दीपक की ज्योति में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरा प्रियतम रहता है । हे जगदीश्वर! इस शरीर में जो वायु-तत्त्व है, वह उसी वायु में जाकर मिल जाय, जो वायु मेरे प्रीतम पर झली जाती है । इस शरीर में जो आकाश-तत्त्व है, वह उसी आकाश में जाकर मिल जाय, जहाँ मेरे प्रीतम का नित्यवास है ।"

क्या माँगा उसने ? विचार तो कीजिये । "मेरे पास जो कुछ है, उनका है, उनके लिए है । और वे न आयें, तब भी मेरे हैं । और मेरे होने से ही मुझको प्यारे हैं ।" अब आप देखिये— निर्ममता आ गई, निष्कामता आ गई, आत्मीयता आ गई । प्रीतम भी आ गया । प्रीतम ने कहा—अरी सखी ! हमने तो सुना था कि यह तो मरी जा रही है । यह तो बड़ी हट्टी-कट्टी सी है । बोले हे प्राणनाथ ! जिसके लिए मरी जा रही थी, जब वही आ गया, तब कैसे मरेगी ! किन्तु मरणासन्न हो गई । तो तू क्यों मरी जा रही है ? कि यों मरी जा रही हूँ कि हे प्यारे ! आप चले जायेंगे ।

तो जब तक मिलन में वियोग न भासे, तो प्रेम कैसा ! और वियोग में मिलन न भासे, तो प्रेम कैसा ? प्रेम ही तो एक ऐसा तत्त्व है, जो मिलन में वियोग, और वियोग में मिलन का दर्शन कराता है । इसीलिये तो उसकी पूर्ति नहीं होती ।

यदि मिलन में वियोग का भास न रहता तो प्रेम पूरा हो जाता। और वियोग में मिलन न होता, तो प्रेम नाश हो जाता। तो प्रेम नाश भी नहीं होता, प्रेम पूरा भी नहीं होता। क्यों? वहाँ मिलन और वियोग समान ही हैं। तो जहाँ मिलन और वियोग समान हैं, आप सोचिये, वहाँ नित-नव प्रियता व नित-नव रस से भिन्न क्या हो सकता है!

इसीलिये प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। अब वह प्रेम आप किसके साथ करेंगे? जब यह प्रश्न आपके सामने आये कि आप किसके साथ करेंगे? बोले, जो हमें जानता है, जिसे हम नहीं जानते। हम जिसे जानते हैं, वह प्रेम से सन्तुष्ट नहीं होता। उसको वस्तु चाहिये, उसको सामर्थ्य चाहिये, उसे प्रेम नहीं चाहिये। तो सच पूछिये, प्रेम उसकी भूख है, जो हमें जानता है, पर जिसे हम नहीं जानते। और सेवा किसकी माँग है? जिसे हम जानते हैं। जिसे हम जानते हैं, उसकी आप सेवा कर सकते हैं। किसके नाते? जो आपका प्रेमास्पद है।

प्रेमास्पद के नाते की हुई सेवा प्रेम से अभिन्न करती है। क्यों? वह जो करने की रुचि है, करने की जो सामर्थ्य है, वह सेवा द्वारा प्रीति में परिणत हो जाती है, प्रेम में बदल जाता है। इस दृष्टि से सेवा प्रीति में, प्रीति सेवा में ओत-प्रोत है। यदि प्रेम की प्राप्ति हो गई, तो उसका क्रियात्मक रूप सेवा है। और जो सेवा की प्राप्ति हो गई, तो उसकी परावधि प्रेम है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन की पूर्णता एक-मात्र प्रेम की अभिव्यक्ति में है। और प्रेम की प्राप्ति में कोई

परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई योग्यता हेतु नहीं है। प्रेम की प्राप्ति में एकमात्र जिसे कुछ नहीं चाहिये, जिसका अपना कुछ नहीं है, जिसका कोई अपना है। यानी जो बेसामान का है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, उस पर भी उसने स्वीकार किया कि आप मेरे हैं।

आप विचार तो कीजिये, निष्काम हुए बिना निर्मम हुए बिना, क्या हम किसी को अपना कह पायेंगे ? नहीं कह पाते। आप कहते हैं कि अपनी सन्तान को अपना कहते हैं। तो जरा विचार कीजिए, जब आपकी सन्तान आपके मन के विरुद्ध कोई काम करती है, तब आप उसका मुँह भी नहीं देखना चाहते। यही आपका अपना कहना है ? विचार कीजिये। आप किसी को अपना कह नहीं सकते, जब तक आप कुछ भी चाहते हैं। देखिये, आप किसी के भी प्रेमी हो जाते हैं, तो सभी के प्रेमी हो जाते हैं। जो किसी का प्रेमी होता है, वह सभी का प्रेमी होता है।

एक बार ऐसी ही बात चल रही थी जे० कृष्णमूर्ति जी की किसी के साथ। जे० कृष्णमूर्ति ने पूछा—तुम किससे प्रेम करते हो ? तो उसने कह दिया कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम करता हूँ। उन्होंने तुरन्त कहा—यदि तुम्हारी पत्नी किसी दूसरे से प्रेम करे, तो तुम उसे प्रेम करोगे ? बोले—नहीं। तो प्रेम करते हो कि शासन करते हो ? तो आप बाप बनकर बेटे पर शासन करते हैं, पति बनकर पत्नी पर शासन करते हैं, मित्र बनकर मित्र पर शासन करते हैं, व्यक्ति बनकर समाज पर शासन करते हैं। और कहते हैं कि हम प्रेम करते हैं। भैया, जिसे प्रेम करना आ जायेगा, उसको फिर कुछ करना ही शेष नहीं रह जायेगा।

किन्तु एक बात अवश्य है कि जब तक आप प्रेमी नहीं होते, तब तक आपके जीवन में जो नीरसता है, जो अभाव है, जो क्षोभ है, जो क्रोध है, वह नाश नहीं हो सकता। इसलिये मानव-जीवन की पूर्णता प्रेम की प्राप्ति में है। और प्रेम की प्राप्ति का उपाय—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, आप मेरे हैं, आप चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, और चाहे कुछ करो, यह नहीं, कि जो मैं चाहूँ, सो करो। तुम चाहे कुछ करो, चाहे जहाँ रहो, और चाहे जैसे हो, पर अपने होने से अत्यन्त प्रिय हो। यही प्रेमी का जीवन है।

२६

जाने हुये का आदर, प्राप्त का सदुपयोग एवं सुने हुए परमात्मा की आस्था—साधनयुक्त जीवन का मूल आधार है।

जो करना चाहिये वह समष्टि शक्तियों से सम्पादित होता है। और जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है।

समष्टि शक्तियों से सम्पादित हुई प्रवृत्ति में कर्त्तापन का दोष नहीं आने देना चाहिये। और की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेने से अकर्त्तव्य का अन्त हो जाता है।

अनन्त की प्रियता से ही अनन्त को रस मिलता है। उन्हीं के दिये हुये रस से हम उन्हीं को प्रियता प्रदान करते हैं। यह सामर्थ्य भी उन्हीं की दी हुई है।

जिज्ञासा का क्षेत्र "यह" और "मैं" है। विश्वास का क्षेत्र प्रभु हैं।

जो नित्य प्राप्त है उसी की प्राप्ति होती है। जो अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

[अ] शान्ति नित्य प्राप्त है।
[ब] स्वाधीनता नित्य प्राप्त है।
[स] त्याग और प्रेम नित्य प्राप्त है।
[द] प्रभु नित्य प्राप्त हैं। अतः उन्हीं की प्राप्ति अनिवार्य है।

———

२६

अ

प्रवचन :

यदि हम अपने निर्माणकर्त्ता की महिमा में आस्था कर लें, श्रद्धा कर लें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्बल से निर्बल प्राणी भी वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकते हैं। यह निर्विवाद सत्य है। अब रही बात यह कि या तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करें, अथवा असमर्थता से पीड़ित हों। दो प्रकार के साधक होते हैं–एक समर्थ साधक होते हैं, एक असमर्थ साधक होते हैं। समर्थ साधक प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करते हैं। और असमर्थ साधक अपनी असमर्थता से पीड़ित होते हैं। असमर्थता का अर्थ सामर्थ्य का अभाव नहीं है। अपितु प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाते, कर सकते हैं, और नहीं करते। क्यों नहीं करते ? इसका कारण तो केवल यही मालूम होता है कि हम भूल-जनित सुख-लोलुपता में आबद्ध हो जाते हैं। अथवा वास्तविकता से निराश हो जाते हैं। ऐसा मान बैठते हैं कि हम साधारण प्राणियों को भला, कैसे योग की, बोध की, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है ! यह अपनी बनाई हुई भूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार वर्तमान की आवश्यकता ही भविष्य की उपलब्धि होती है। जो माँग है, उसकी पूर्ति

अनिवार्य है। परन्तु हम इस मंगलमय विधान का आदर नहीं करते; और निराश हो जाते हैं। अथवा ऐसा सोचिये कि जो करना चाहिये; उसमें ही अपना अधिकार नहीं मानते। सोचते हैं कि हमको कोई ऐसी बात भी करने को है, जिसे नहीं कर सकते, और फिर निराश होते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। जो नहीं कर सकते, वह तो करना ही नहीं है। जो नहीं जानते, वह तो जानना ही नहीं है ? इतना ही नहीं, यदि आपमें आस्था नहीं है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

किन्तु विवेक-विरोधी आस्था कर लें—यह भूल की बात है। जिसको प्रभु-विश्वास नहीं है, उसको फिर किसी में विश्वास न हो। क्यों ? जब आप सुने हुये प्रभु में विश्वास नहीं कर सकते, तो आप ही बताइये कि मिले हुये में और देखे हुये में कैसे विश्वास कर सकते हैं ? मिले हुये का सदुपयोग कर सकते हैं। देखे हुये की खोज कर सकते हैं, पर विश्वास नहीं कर सकते। तात्पर्य क्या निकला ? या तो हम प्रभु में विश्वास करें, अथवा किसी में विश्वास न करें। तो किसी में विश्वास न करने से भी वास्तविकता की प्राप्ति होती है। और प्रभु में विश्वास करने से भी वास्तविकता की प्राप्ति होती है। यदि कोई यह कहे कि हमारे जीवन में तो यह प्रश्न ही नहीं है कि हम विश्वास करें, अथवा न करें। तो सीधी-साधी बात है कि जो आपको मिला है, उसका सदुपयोग करें। मिले हुये के सदुपयोग से पर-हित स्वतः होता है।

जब हम मिले हुये का सदुपयोग नहीं करते हैं, तब दुरुपयोग करते हैं। बिना करे तो रह नहीं सकते। यह नियम

है कि जिसके पास कुछ भी है, वह कुछ-न-कुछ करता अवश्य है। अतः जो मिला है उसके कारण करने की सामर्थ्य है। अब आप उसका सदुपयोग करते हैं कि दुरुपयोग--यह तो आप स्वयं विचार करें। तो सारांश यह निकला कि यदि आप असमर्थ हैं तब भी साधक, जाने हुये का आदर करते हैं तब भी साधक, मिले हुये का सदुपयोग करते हैं तब भी साधक। और यदि कोई सदुपयोग करना चाहता है, आस्था करना चाहता है, जाने हुये का आदर करना चाहता है, पर कर नहीं पाता, किन्तु न करने का दुःख है, तब भी साधक।

तो क्या आज जो हम चाहते हैं, उसके न होने से दुःखी भी नहीं हो सकते ? अब कोई कहे कि हमारे बस की यह बात नहीं। तब तो मानना पड़ेगा कि हमने अपने को साधक ही स्वीकार नहीं किया—एक बात। दूसरी बात यह है कि जिसके बस की कोई बात नहीं है, उसने अपने अस्तित्व को कैसे मान लिया ? आप देखेंगे विचार से, तो आपको यह मालूम पड़ेगा कि कुछ-न-कुछ आप जरूर कर सकते हैं। कोई-न-कोई दायित्व आप पर जरूर है। तो जो कर सकते हैं, उसके करने का नाम ही तो कर्त्तव्य-परायणता है। और जो नहीं करना चाहिये, उसके करने का नाम ही अकर्त्तव्य है। असमर्थ से अकर्त्तव्य नहीं होता। सामर्थ्य के दुरुपयोग में अकर्त्तव्य है। जो कुछ नहीं जानता, उसमें अविवेक कभी नहीं आता। जाने हुये के अनादर का नाम अविवेक है। जो कुछ नहीं मानता, उसमें अश्रद्धा कभी नहीं होती। माने हुये में आस्था न करना—यह अश्रद्धा है।

तात्पर्य कहने का यह है कि यदि हम अपनी वर्तमान वस्तु स्थिति पर विचार करें, तो प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को यह मानना ही पड़ेगा कि हम कुछ-न-कुछ कर भी सकते हैं, और कुछ-न-कुछ जानते भी हैं, और किसी-न-किसी अंश में प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में आस्था भी है। देखना यह है कि आस्था किसमें है ? क्या जानते हैं ? और क्या कर सकते हैं ? जो आप जानते हैं, उसी में आपका हित है। जो कर सकते हैं, उसी से आपको सफलता होगी। किन्तु जानने, और करने में, और आस्था में परस्पर भेद नहीं होना चाहिये। अल्प जानते हैं, अल्प कर सकते हैं,—उसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जितना भी जानते हैं, जो भी कर सकते हैं—उसी में सिद्धि है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में असफलता के लिये, हार मानने के लिये, निराश होने के लिये कोई स्थान ही नहीं है।

कुछ लोग सोचते हैं, क्या बतायें ! हम समय पर उठ नहीं पाते। ठीक है। जहाँ यह बताया कि अमुक समय पर उठो और शान्त रहो, वहाँ यह भी बताया है कि जब सो कर जगो, तब ही शान्त रहो। और जब आपके सारे कार्य समाप्त हो जायँ, तब शान्त हो जाओ। कार्य के आदि में हो जाओ, कार्य के अन्त में हो जाओ। किन्तु कोई कहे कि नहीं, हम तो शान्त हो ही नहीं सकते। तो इसका अर्थ यह है कि हम शान्त होना ही नहीं चाहते। और जो बात आप जानते ही नहीं हैं वह यदि नहीं होती है, तो यह क्यों सोचते हो कि हम कर नहीं सकते ?

प्रत्येक कार्य के आदि में, अन्त में, सोने से पहले, जगने के बाद प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन शान्त हो सकते हैं। यहाँ तक बताया कि अल्प से अल्प काल दस-बारह सेकिण्ड में भी। क्यों ? जब आप शान्त होते हैं, तब स्वतः किये हुये की स्मृति याद आती है। और जब किये की स्मृति आती है, तब आपको स्वयं अनुभव होता है कि हमने वह भी किया जो नहीं करना चाहिये और वह भी किया जो करना चाहिये। यह अनुभव प्रत्येक भाई को; प्रत्येक बहन को होता है। यदि आप अपने अनुभव का आदर करें, तो जो नहीं करना चाहिये, उसको न करने का निर्णय कर लें, और जो कोई ऐसी बात की है, जो करनी चाहिये, तो उसके फल में आसक्ति न रखें। क्यों ? जो करना चाहिये, वह समष्टि शक्तियों से सम्पादित होता है। और जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है।

तो जिसका सम्पादन समष्टि शक्तियों से हुआ है, उसके फल में आस्था रखना, अथवा उसकी आशा करना–यह तो एक ऐसी बात है, जैसे किसी दूसरे के किये हुये का फल भोगना। तो ईमानदारी यह नहीं है न! और जो भूल से कर चुके हैं, उसका तो और कोई उपाय ही नहीं है, सिवाय इसके कि भाई, अब नहीं करेंगे। तो जो नहीं करना चाहिये, उसको नहीं करेंगे। और जो करना चाहिये; उसे करेंगे। करेंगे क्या! वह

होगा। भाषा की दृष्टि से संकेत में यह कहना पड़ता है कि जो नहीं करना चाहिए, वह नहीं करेंगे; और जो करना चाहिए, वह करेंगे। यह एक भाषा है। वास्तव में जब हम वह नहीं करते हो जो नहीं करना चाहिए, तो वह स्वतः होता है, जो करना चाहिए।

तो अब केवल अपने पर इतना ही दायित्व रहा कि हम अपनी वस्तु-स्थिति से परिचित हो जायँ। और उसमें यदि कोई ऐसी बात मालूम पड़ती हो कि जिसको हमने अपनी भूल से किया है, तो अब उसको नहीं करेंगे। यही वास्तव में सत्संग है। यहीं से विकास का आरम्भ होता है। अब जो भाई, जो बहन कहे कि नहीं, जो भूल कर चुके हैं, उसे तो हम छोड़ ही नहीं सकते। अगर कोई ऐसा कहते हैं कि हम नहीं छोड़ सकते की हुई भूल को, तो इसका अर्थ यह है कि उनके जीवन में भूल-जनित व्यथा नहीं है। यदि भूल-जनित व्यथा होती, तो भूल का त्याग सुलभ हो जाता, सहज हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने आप हो जाता है।

जैसा कि मैंने अभी कहा है कि जिसके न होने का दुःख होता है, वह होने लगता है। यह विधान की बात है। क्यों? दुःख स्वभाव से किसी को अभीष्ट नहीं है। कोई चाहता नहीं है कि जीवन में दुःख आये। किन्तु जब हम भूल करते हैं, तब दुःख आता ही है। और जब दुःख आता है, उस समय दूसरी भूल क्या करते हैं? कि हम उसका कारण दूसरों को मान लेते हैं। जो व्यक्ति अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है, उसे अपनी भूल का स्पष्ट ज्ञान ही नहीं होता। और जिसे अपनी

भूल का ज्ञान नहीं होता, उसे दूसरे के कर्त्तव्य का बड़ा सुन्दर ज्ञान होता है। यह बात नहीं है कि उसमें ज्ञान नहीं है, दूसरे के कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान है।

यहाँ तक कि लोग प्रभु से ऐसी प्रार्थना करते हैं कि देखिए, आपने यह नहीं किया, और आपने यह नहीं किया, और आप यह कीजिये। अर्थात् प्रभु के कर्त्तव्य का भी ज्ञान रहता है, जगत् के कर्त्तव्य का भी ज्ञान रहता है। आप सोचिये तो सही, जब आपको सभी के कर्त्तव्य का ज्ञान है तो आपको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान क्यों नहीं है ? आपको अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान है। परन्तु आप अपनी ओर देखते नहीं हैं। क्यों नहीं देखते ? कि आप दूसरों से सुख की आशा करते हैं। अथवा अपने दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं।

जब तक मानव अपने दुःख का कारण किसी और को मानेगा, तब तक वह आशा करे कि मेरा दुःख मिट सकता है—वह नहीं मिट सकता। और जब तक वह दूसरों से सुख की आशा करेगा, तब तक जीवन में दुःख न आ जाय—यह कभी सम्भव नहीं है, अवश्य आयेगा। तो हम-सबको सबसे बड़ी भूल यही होती है कि हम दूसरों से सुख की आशा करते हैं, और अपने दुःख का कारण दूसरे को मानते हैं। सुख की आशा की नहीं, कि राग उत्पन्न हो जायेगा। अपने दुःखों का कारण दूसरों को माना नहीं, कि द्वेष उत्पन्न हो जायेगा। राग और द्वेष के रहते हुए, न कोई स्वाधीन हो सकता है, और न अभिन्नता को प्राप्त होता है।

द्वेष ने ही भिन्नता को पोषित किया है, राग ने ही

हमें पराधीन बनाया है। हमारी पराधीनता में और कोई हेतु नहीं है। हमारा अपना राग है। वह राग केवल सुख की आशा से उत्पन्न हुआ है। यदि हम अपने जीवन में से यह बात निकाल दें कि भाई, दूसरों से सुख की आशा करना भूल है। इसमें दूसरे का अपराध नहीं है। हम लोग कभी-कभी ऐसा सोचते भी हैं, कि अच्छा ! हम दूसरों से सुख की आशा नहीं करेंगे। पर सोचते हैं क्रोध पूर्वक। जब दूसरे लोग हमारे मन की बात नहीं करते, तब हम कहते हैं—अच्छा, हम तुमसे कोई आशा नहीं करेंगे। यह जो सोचना है वह सही नहीं है। हाँ, बिना क्रोध के, शान्त होकर यह सोचेंगे—क्या वह भी जीवन है, जो दूसरों पर निर्भर हो ! ऐसा जीवन हमें नहीं चाहिये। हमें वह जीवन चाहिये ही नहीं कि जिसकी प्राप्ति, "पर" की अपेक्षा रखती हो।

अब कोई कहे कि अगर आपको नहीं चाहिये, तो आपको जीवन ही नहीं मिल सकता। तो हमें यह बात भी स्वीकार कर लेनी चाहिये कि जो पराधीनता में जीवन है. वह तो हमको चाहिये ही नहीं। हमें तो वही जीवन चाहिये, जो स्वाधीनता पूर्वक मिल सकता है। आप सच मानिये, यह निर्णय भर करना है। बस ! आपको जीवन की प्राप्ति हो जायेगी। दूसरों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि आज हम दुःखी हैं। अपने दुःख का कारण दूसरों को मानने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने दुःख को नहीं मिटा पाते।

इसलिये भाई, यह असत् का संग है। हम किसी से सुख की आशा नहीं करेंगे। क्यों ? इसलिये कि मानव हैं। इसलिये

नहीं कि दूसरों ने सुख नहीं दिया। दूसरों ने सुख नहीं दिया, इसलिये हम सुख की आशा नहीं करेंगे—यह तो क्रोध हो जायेगा। यह मानवता नहीं है। मानवता इस बात में है कि पराधीनता-जनित सुख हमको नहीं चाहिये। तभी न! हम पराधीनता से रहित हो सकते हैं। यदि हम यह सोचते रहें कि नहीं, हमको वह सुख चाहिये, जो दूसरों के द्वारा मिल सकता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमें स्वाधीनता प्यारी नहीं लगती। जिसे स्वाधीनता प्यारी नहीं लगती, आप सोचिये तो सही, उसको चिन्मय जीवन कैसे मिलेगा? अमर जीवन कैसे मिलेगा? नित्य जीवन कैसे मिलेगा? नहीं न मिल सकता। और जब हमें अमर जीवन नहीं मिल सकता, चिन्मय जीवन नहीं मिल सकता, नित्य जीवन नहीं मिल सकता, तो फिर जीवन ही क्या हुआ!

इसलिये धीरजपूर्वक यह बात अपनानी चाहिये कि हमें वह चाहिये नहीं, जिसकी प्राप्ति स्वाधीनतापूर्वक नहीं हो सकती अथवा यों कहो कि हमें पराधीनता कभी भी अभीष्ट नहीं है। जिसे पराधीनता अभीष्ट नहीं है, वह दूसरों से सुख की आशा क्यों करेगा? वह अपने दुःख का कारण किसी और को क्यों मानेगा? यह तो जब तक हम पराधीनता पसन्द करते हैं, तभी तक ये दोनों विकार रहते हैं। पराधीनता का अर्थ क्या है? जो अपने से भिन्न है, उसके अधीन। तो यह जो कुछ दिखाई देता है आपको, अथवा जिसकी आपको प्रतीति होती है, वह तो सब अपने से भिन्न है।

इसका अर्थ यह निकला कि हमें शरीर के सहयोग से

मिलने वाला सुख भी नहीं चाहिए। यहाँ शरीर का अर्थ तीनों शरीरों से लेना चाहिए। अर्थात् क्रिया-जनित, चिन्तन-जनित और स्थिरता-जनित। जो सुख किसी श्रम के द्वारा साध्य है—नहीं चाहिए। जो सुख किसी चिन्तन से साध्य है—नहीं चाहिए। जो सुख किसी अवस्था से साध्य है—नहीं चाहिए। तब कहीं हम स्वाधीनता के अभिलाषी होते हैं। और जब स्वाधीनता के अभिलाषी होते हैं, तब बिना ही प्रयत्न के स्वतः स्वाधीनता प्राप्त होती है। इससे अधिक सुगमता आपको क्या चाहिए ?

बहुत से लोग कहते हैं कि कोई सहज साधन बताइए। मैं आपसे पूछता हूँ कि कभी आपने सोचा क्या कि कोई ऐसा सहज उपाय बताइये, जिससे रोटी मिल जाय। आप कभी नहीं सोचते हैं। और साधन ऐसा बताइये, जो बहुत ही सुलभ हो और जिससे प्रभु-प्राप्ति हो जाय, जिससे तत्त्व-साक्षात्कार हो जाय, जिससे दुःख की निवृत्ति हो जाय, जिससे पराधीनता मिट जाय। इन सब बातों के लिए तो आप सहज साधन चाहते हैं और रोटी खाने के लिए ? बोले, हम तो चौबीस घण्टे में-से अठारह घण्टे परिश्रम कर सकते हैं, अपनी पूरी शक्ति लगा सकते हैं। तो रोटी खाने में आप पूरी शक्ति लगा सकते हैं और सच्चाई की खोज में आप सोचते हैं—कोई सहज-साधन बताइये सुलभ साधन बताइये। मैं आपसे पूछता हूँ—रोटी खाने के लिए जितना श्रम कर सकते हैं सत्य की खोज के लिए उतना क्यों नहीं कर सकते ? उतना तो कर ही सकते हैं न !

तो आज हमें सत्य की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? यह नहीं कि हम उसके अधिकारी नहीं हैं आप अधिकारी तो हैं, परन्तु

अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाते। और इतना ही नहीं, यह आवश्यकता भी अनुभव नहीं करते कि हम स्वाधीनता के बिना किसी भी प्रकार रह नहीं सकते। जिसकी प्राप्ति आवश्यकता-मात्र में निहित है, उससे निराश हो जायें, और जिसकी प्राप्ति विधान से सम्बन्ध रखती है, माँगने से सम्बन्ध नहीं रखती, हमारी कामना से ही जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी आज हम आशा करते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति किसी व्यक्ति की निर्मित नहीं है, प्राकृतिक विधान से निर्मित है। हम अप्राप्त परिस्थिति की आशा करते रहते हैं। इसका अर्थ क्या है ? कि जिसे नहीं कर सकते; स्वाधीनतापूर्वक नहीं पा सकते, उसकी हम आशा करते हैं। और जिसको हम स्वाधीनतापूर्वक पा सकते हैं, उससे निराश होते हैं। सबसे बड़ी भूल यही एक है। आप स्वाधीनता पूर्वक स्वाधीन हो सकते हैं। आप स्वाधीनता पूर्वक प्रेम प्राप्त कर सकते हैं। आप स्वाधीनता पूर्वक कर्त्तव्य-निष्ठ हो सकते हैं। क्यों ? जब आप वह नहीं करें, जो नहीं करना चाहिये, तो अपने आप कर्त्तव्य परायणता आ जायेगी। जब आपको पराधीनता अभीष्ट ही नहीं है तो अपने आप असंगता आ जायेगी। और जब प्रभु से भिन्न किसी में आस्था नहीं करते, तो अपने आप आत्मीयता आजायेगी तो आत्मीयता आस्था में है।

अब आप सोचिये, आप यह कहें कि हम तो आस्था कर ही नहीं कसते। यदि आप आस्था नहीं कर सकते, तो यह तो बताइये कि आप कर क्या सकते हैं ? इस प्रकार जब आप स्वय विचार करेंगे, तब "व्यक्तिगत-सत्संग" होने लगेगा।

और जब व्यक्तिगत सत्संग होने लगेगा, तब बड़ी ही सुगमता पूर्वक आप अपने में से अपनी भूल-जनित क्रियाओं को निकाल सकेंगे, विवेक-विरोधी विश्वास को तोड़ सकेंगे, विवेक-विरोधी कर्म का नाश हो जायेगा। बस! फिर कुछ भी करना नहीं है। क्यों करना नहीं है? कि फिर जो करने की बात है, वह स्वतः होने लगेगी।

कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता—से साधन हैं, सत्संग नहीं है। सत्संग क्या है? हम वह न करें, जो नहीं करना चाहिये, जिसे नहीं कर सकते—यह सत्संग हुआ, यह साधन नहीं है। अर्थात् विवेकी-विरोधी कर्म का त्याग सत्संग है, कर्त्तव्यपरायणता साधन है। विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग सत्संग है, असंगता साधन है। विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग सत्संग है, आत्मीयता साधन है। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता प्रत्येक भाई को और प्रत्येक बहन को व्यक्तिगत सत्संग करने पर स्वतः प्राप्त होती है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

कर्त्तव्यपरायणता आते ही आप चाहो तो, न चाहो तो, आपका जीवन जगत् के लिये उपयोगी हो जायेगा। असंगता प्राप्त होते ही आपके न चाहने पर भी आपका जीवन अपने लिये उपयोगी हो जायेगा। और आत्मीयता प्राप्त होते ही आपका जीवन प्रभु के लिये उपयोगी हो जायेगा। जीवन जगत् के लिये उपयोगी हो जाय—इसमें लोगों को उलझन नहीं मालूम होती, आश्चर्य नहीं मालूम होता। अपने लिये उपयोगी हो जाय—यह भी सुगमता से मान्य हो जाता है।

परन्तु जब मैं यह कहता हूँ कि आपका जीवन प्रभु के लिये भी उपयोगी हो जायेगा, तो थोड़ी चौंक पैदा होती है। क्यों होती है ? कि वे सोचते हैं कि वे समर्थ हैं, भला, उनको हमारी क्या जरूरत है ! सोचिये तो सही, समर्थ को हमारी इसलिये जरूरत नहीं है कि हम उनको कुछ देंगे।

२६

ब

यह तो बात ठीक है। परन्तु जिसने हमारा निर्माण किया है, हम उसमें आस्था न करें, हम उसे अपना न मानें, तो क्या यह बात उस निर्माणकर्त्ता को पसन्द होगी ? कभी पसन्द नहीं होगी। जिसने हमारा निर्माण किया है, उसने हमें यह सामर्थ्य प्रदान की है कि हम उसको अपना मानें। उसमें हमारी आत्मीयता हो। और आत्मीयता होने से स्मृति जाग्रत होती है, प्रियता उदित होती है। तो क्या अनन्त को अपनी प्रियता नापसन्द होगी ? अच्छी नहीं लगेगी ? अवश्य लगेगी। आप जीवन में अनुभव करके देखिये। आपका ही उत्पन्न किया हुआ बालक हो, और आपका ही बनाया हुआ भोजन हो, और जब यह बालक आपके बनाये हुये भोजन को आपके बनाये हुए हाथ से लेकर आपके मुँह में देता है, तब किसी माँ से पूछिये, कि माँ को कितनी प्रसन्नता होती है !

आपको मालूम हो जायेगा कि जिसने हमारा निर्माण किया है, जो सर्व-समर्थ है, उसको भी प्रसन्नता होती है। कब ?

जब हम उसे अपना मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें खिन्नता थी, इसलिए उसको प्रसन्नता की आवश्यकता हुई—इसका अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जो अपनी महिमा में आप स्थित है, उसको जब हम अपना कहते हैं, जब उसे इसलिए प्रसन्नता होती है कि आत्मीयता-जनित जो प्रियता है उसकी कभी पूर्ति नहीं होती और निवृत्ति भी नहीं होती। तो निवृत्ति-पूर्ति-रहित जो प्रियता है, वह अनन्त है। तो अनन्त की यियता से ही अनन्त को रस मिले—इसमें आपको सन्देह क्यों होता है? इसमें सन्देह इसलिए होता है आपको—कि आप अखण्ड रस तो पसन्द कर लेते हैं। और इसलिए पसन्द कर लेते हैं कि आपमें जो अखण्ड रस न होने का दुःख था, वह मिट गया।

तो अखण्ड रस का अर्थ है—दुःख-निवृत्ति। स्वाधीनता का अर्थ है—दुःख-निवृत्ति। चिन्मय जीवन का अर्थ—दुःख निवृत्ति। मैं आपसे पूछता हूँ—परमानन्द की प्राप्ति के लिए क्या उपाय है आपके पास? आप ममता-रहित हो गये—निर्विकारता प्राप्त हो गई, विकार-जनित दुःख नाश हो गया। आप निष्काम हो गये—परम शान्ति प्राप्त हो गई, अशान्ति-जनित दुःख नाश हो गया। आप असंग हो गये—पराधीनता जनित दुःख की निवृत्ति हो गई, स्वाधीनता प्राप्त हो गई। तो यहीं तक तो अपने दुःख-निवृत्ति की बात है। किन्तु दुःख निवृत्ति के साथ-साथ जब परमानन्द प्राप्ति का लक्ष्य होता है, तो मानना ही पड़ेगा कि उस लक्ष्य की प्राप्ति आत्मीयता में है, अगाध प्रियता में है।

इसी आधार पर यदि यह निवेदन कर दिया जाय कि जीवन

प्रभु के लिये भी उपयोगी होता है, जगत् के लिये भी उपयोगी होता है, अपने लिये भी उपयोगी होता है—तो इसमें अत्युक्ति नहीं है। यह बात अलग है कि प्रभु के लिये उपयोगी हम अपने बल से होते हों–सो नहीं होते, अपनी विशेषता से होते हों–सो नहीं होते। उन्हीं की दी हुई विशेषता से। अरे भाई! गंगा जल से गंगा की पूजा कर दी जाय, तो इसमें क्या पूजा करने वाले की विशेषता है? उन्हीं के दिये हुये से, उन्हीं के निर्माण किये हुये से, हम उनके लिये उपयोगी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे असमर्थ हैं, या परिपूर्ण नहीं हैं या अखण्ड नहीं हैं, या नित्य नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, हम कुछ नहीं हैं—यह बात ठीक है। परन्तु उनके होने से उनके लिये उपयोगी होते हैं। यह है आस्तिकता।

जब मैंने अध्यात्मवाद, भौतिकवाद और आस्तिकवाद का विभाजन किया तो मेरे एक बड़े पुराने मित्र कहने लगे कि आप अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद में भेद क्यों करते हैं? तो मैंने कहा—रस की दृष्टि से भेद करता हूं। अध्यात्मवाद का अर्थ क्या है? अपने सम्बन्ध में पूरी जानकारी। भौतिकवाद का अर्थ क्या है? जगत् के सम्बन्ध में पूरी जानकारी। आस्तिकवाद का अर्थ क्या है? सुने हुये में आस्था। सुने हुये में आस्था ही वास्तव में आस्था है। आप देखे हुये में विश्वास करेंगे तो धोखा खायेंगे। और जाने हुये में विश्वास की अपेक्षा ही नहीं होती।

जरा विचार करें, विश्वास की अपेक्षा जाने हुये में नहीं

होती। और जिसके सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, उसमें भी विश्वास नहीं कर सकते। जिसके सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। और पूरा जब जानते हैं, तब जिज्ञासा की पूर्ति होती है। तो आप ही बताइये, विश्वास का उपयोग कहाँ करेंगे ? अपने सम्बन्ध में कर नहीं सकते, जगत् के सम्बन्ध में कर नहीं सकते ! क्योंकि जगत् के सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं, अपने सम्बन्ध में आप अधूरा जानते हैं।

इसलिये जब जिज्ञासा होती है, तब यह नहीं होती कि परमात्मा कैसा है ! यह तो लोग वैसे ही कहने लग गये। 'यह' क्या है ? "मैं" क्या हूँ ?। जिज्ञासा का क्षेत्र "यह" और "मैं" है। विश्वास का क्षेत्र प्रभु हैं। या तो आप यह कहिये कि जीवन में विश्वास की आवश्यकता ही नहीं है। ठीक है। इससे कोई आपकी हानि नहीं होगी। देखिये, मानव सेवा-संघ की साधन-प्रणाली में कब हानि होती है ? कि जब आप अपनी बात नहीं मानते हैं। यदि आप अपनी बात मान लें, तो हानि बिल्कुल नहीं है।

अगर आप में विश्वास की सामर्थ्य नहीं है, आपके जीवन में विश्वास जैसी चीज नहीं है, यदि आपने कभी किसी में विश्वास किया ही नहीं है, तो मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में यह आग्रह नहीं है कि आप विश्वास कीजिये। परन्तु एक बात तो बताओ, यदि कोई विश्वास करे, तो आप विरोध क्यों करते हो? यानी आप विश्वास न करें, इसमें आप स्वाधीन हैं। लेकिन आप किसी को विश्वास न करने दें—यह कौन-सी योग्यता की बात है ? मानव-सेवा-संघ ने एक बड़ी सुन्दर बात बताई कि आप

अपने साधन का अनुसरण करें, परन्तु दूसरे के साधन का विरोध तो न करें ! आनादर तो न करें !

मेरा यह निवेदन है कि जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है, इसलिये कि प्रभु ने हमें वह सामर्थ्य प्रदान की है। मैं आपसे पूछता हूँ, यदि आप ही परमात्मा हैं–ऐसा अगर मान लें, तब भी तो आपको अपने में विश्वास करना चाहिये कि नहीं ? आपको अपने में प्रियता होनी चाहिये कि नहीं ? आप प्रियता का विरोध नहीं कर सकके। आप विश्वास का विरोध नहीं कर सकते। क्यों ? आप रह नहीं करते बिना विश्वास किये। वस्तु-विश्वास भी तो विश्वास ही है न ! किन्तु उसने लोभ को उत्पन्न कर दिया। व्यक्ति-विश्वास भी तो विश्वास ही है न ! परन्तु उसने मोह को उपत्न्न कर दिया। परिस्थिति-विश्वास ने दीनता और अभिमान को जन्म दिया। अवस्था के विश्वास ने परिच्छिन्नता को पोषित किया।

तो क्या यह विकार-युक्त जीवन किसी भाई को, किसी बहन को अभीष्ट है ? आपको मानना पड़ेगा—नहीं है। यदि अभीष्ट नहीं है, तो वस्तु विश्वास त्याग किये बिना देखिये, निर्लोभता कैसे प्राप्त हो जायेगी ? आप क्या समझते हैं कि दान देने से कोई निर्लोभ होता हैं ? दान देने से तो लोभ की वृद्धि होती है कि और मिले तो और दें, और मिले तो और द। एक बात। दूसरी वात आप सोचिये, वस्तु को अपना मानकर देने में फलासक्ति नहीं होगी ? अवश्य होगी।

तो वस्तु विश्वास के रखते हुये निर्लोभता प्राप्त कर सकते हैं ? कभी सम्भव नहीं है। और निर्लोभता के बिना दरिद्रता मिट सकती है ? यह कभी भी सम्भव नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि यदि हमारे जीवन में निर्लोभता आजाय, तो दरिद्रता रह नहीं सकती। आप जानते कि निर्लोभता का अर्थ क्या है ? प्राप्त में ममता न हो, संग्रह की रुचि न हो, मिले हुए का दुरुपयोग न हो, अप्राप्त की कामना न हो। जब ये सारी बातें जीवन में आ जाती हैं, तब निर्लोभता आती है। निर्लोभता आते ही प्रकृति लालायित होती है कि आवश्यक वस्तु आपको प्रदान करे।

पर यह विज्ञान आज हम भूल गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि लोग समझते हैं कि लोभ से दरिद्रता नाश होगी, संग्रह से दरिद्रता नाश होगी—कभी नहीं होगी। परिस्थितियों के चिन्तन से परिस्थिति प्राप्त होगी—कभी नहीं होगी। इसलिए भाई, इस विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करना ही होगा। और जब आप इस विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग कर देंगे तब आप में निर्विकारता आ ही जायेगी। वस्तु विश्वास का त्याग हुआ कि निर्लोभता आई। व्यक्ति-विश्वास का त्याग हुआ कि निर्मोहता आई अवस्था विश्वास का त्याग हुआ कि अपरिच्छिन्ना आई। आप कहेंगे, कैसे ? विश्वास सम्बन्ध न जोड़ देता है। विश्वास ही तो जञ्जीर है जो "नहीं" में भी बाँध दे, और "है" में भी बाँध दे। यह बड़ी विलक्षण बात है। यानी विश्वास की विलक्षणता है कि "नहीं" के साथ सम्बन्ध जोड़ दे, और "है" के साथ भी सम्बन्ध जोड़ दें।

तो विश्वास किसमें करना चाहिए ? जो ' है" जो 'है' ! "है" में ही आस्था करनी चाहिए। बोले—'है' किसको कहते हैं ? कि जो "नहीं" को "नहीं" जान लोगे, तो 'है' का बोध हो जायेगा। आप ' है" को नहीं जानते हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं। आप "नहीं" को जानते हैं क्या ? "नहीं" को जानने से 'है' का बोध हो जाता है। यदि कोई कहै कि 'सत्' को जानते नहीं। तो 'असत्' को जानते हो ? तो 'असत्' के जानने से 'सत्' का बोध हो जाता है। क्यों ? 'असत्' का ज्ञान 'असत्' की असङ्गता के बिना होता ही नहीं है। और जब 'असत्' से असङ्गता होती है, तब 'सत्' से अभिन्नता होती ही है।

तो तात्पर्य क्या निकला ? कि 'असत्' के ज्ञान में 'सत्' की प्राप्ति है। असत् के ज्ञान में "सत्" की प्राप्ति है। लोग सोचते हैं कि हमको 'आत्मा' का ज्ञान हो जाय। ज्ञान 'अनात्मा' का होगा, 'आत्मा' का नहीं होगा। हाँ, 'आत्मा' की प्राप्ति होगी, 'आत्मा' में प्रियता होगी। ऐसे ही ज्ञान जो होता है, वह आपको जगत् का होता है, परमात्मा का नहीं होता। परमात्मा की आपको प्राप्ति होती है। तो जिसकी प्राप्ति होती है, उसी में आस्था करना है और जिसमें आस्था होती है, उसी में आत्मीयता होती है। और जिसमें आत्मीयता होती है, उसी में प्रियता होती है।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य हो जाता है कि हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि जीवन प्रभु के लिए उपयोगी

होगा। अवश्य होगा। आप कहें—प्रभु समर्थ हैं, उन्हें हमारे लिए उपयोगी होना चाहिए। तो प्रभु तो आपके लिए उपयोगी हैं ही। बहुत दिनों की बात है, मैं मैनपुरी में एक मित्र के यहाँ ठहरा हुआ था। उनकी माँ ने मुझसे पूछा कि भगवान् ने संसार को क्यों बनाया? मैंने उत्तर दिया कि मेरे लिए बनाया। ऐसा दुःख-रूप क्यों बनाया? वह इसलिए बनाया कि मैं कहीं फँस न जाऊँ। बनाया मेरे लिए और दुःख-रूप इसलिए बनाया कि मैं इसमें फँस न जाऊँ। तो भगवान् ने जो कुछ किया है, वह मेरे हित में किया है। यह बात विनोद की होने पर भी वास्तविक है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर आप संसार से कोई आशा नहीं करते तो कभी संसार ने आपको अपना मुँह दिखाया है क्या? विचार तो करो। जब आप कोई कामना पूरी करना चाहते है, तब न! आपको संसार का भास होता है। आप कुछ न चाहें, संसार आपको मुँह नहीं दिखायेगा। आप कहेंगे कि जिसने करुणा करके हमारी कामना की पूर्ति के लिए संसार बनाया, उसने ऐसा क्यों नहीं बनाया, जो सभी कामनायें पूरी हो जायें? तो मै आपसे पूछता हूँ, क्या कामना-पूर्ति काल में आप पराधीनता का अनुभव नहीं करते? तो क्या प्रभु ऐसी सृष्टि का निर्माण करते, जो आप सदैव पराधीन बने रहते? आप सच मानिये, कामना-अपूर्ति—यह किसी पाप का फल नहीं है। यह वैधानिक बात है।

आज लोग समझते हैं—हम बड़े अभागे हैं! बोले, क्यों?

कि जो हम चाहते हैं, सो होता ही नहीं। अरे बाबू! जो तुम चाहते हो, वह नहीं होता, इसलिए आप अभागे नहीं हैं। आप चाहते हैं, इसलिए अभागे हैं। और यह जानते हुए कि जो चाहते हैं सो नहीं होता, फिर भी चाहते हैं।

एक बार साधननिष्ठा देवकीजी ने एक बड़ा सुन्दर व्याख्यान दिया। वे जब कभी व्याख्यान देती हैं तो अपने को सामने रखकर बोलती हैं। उन्होंने यह कहा कि मैं जो चाहती हूँ सो होता नहीं और जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं। उस व्याख्यान में एक युवक बैठा हुआ था। वह टप-टप रोने लगा। वह कहने लगा कि दीदीजी ने जीवन का चित्र सामने रख दिया। उसके बाद मुझे बोलना था। आज-कल मैं पहले बोलता हूँ, पीछे वे बोलती हैं। उन दिनों वे पहले बोलती थीं, मैं पीछे बोलता था। क्योंकि वे अपने व्याख्यान में प्रश्न स्थापित करती थीं; मैं उत्तर देता था। आज उनका अपना प्रश्न नहीं रहा है, प्रभु कृपा से हल हो गया है। तो मैंने कहा कि जब तुम जानती ही हो कि जो मैं चाहती हूँ सो नहीं होता, तो फिर चाहती ही क्यों हो?

अरे, जब हम जानते ही हैं, कि जो हम चाहेंगे सो होगा नहीं, तो क्यों नहीं अचाह हो जाती? और जब आप अचाह हो जाते हैं, जब आप कुछ नहीं चाहते हैं, तब आप अप्रयत्न भी हो जाते हैं। अकर्मण्य नहीं हो जाते। अप्रयत्न में और अकर्मण्यता में एक बड़ा अन्तर है। अकर्मण्य तो वह होता है जो दूसरे के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है। और अप्रयत्न

वह होता है, जो निष्कामता को अपनाता है। अप्रयत्न बहुत बड़ा साधन है। अकर्मण्यता बहुत बड़ा असाधन है। साधन और असाधन में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर अप्रयत्न और अकर्मण्यता में है।

अप्रयत्न होते ही अभिन्न होते हैं। क्यों ? अहङ्कृति ने ही सीमित अहंभाव को जीवित रखा है। और सीमित अहंभाव से ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हुए हैं, भिन्नतायें उत्पन्न हुई हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अप्रयत्न में अभिन्नता है। अभिन्नता में अगाध प्रियता है। अगाध प्रियता में अनन्त रस है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि आपका मानव-जीवन असफलता के लिए नहीं है, निराशा में आबद्ध होने के लिए नहीं है, भय में आबद्ध होने के लिए नहीं है, पराधीनता में आवद्ध होने के लिए नहीं है, जड़ता में आबद्ध होने के लिए नहीं है।

तो किसलिए है ? स्वाधीनता के लिए है, चिन्मय जीवन के लिए है, अनन्त रस के लिए है, पूर्णता के लिए है। यह जीवन ही आपका पूर्णता के लिए है। कोई परिस्थिति पूर्णता के लिए नहीं है। अतः जो भी परिस्थिति आपको प्राप्त है, उसी के सदुपयोग में आपका विकास है। आज हम सोचते हैं— क्या बतायें ! हमें साथी अच्छा नहीं मिला, अगर साथी अच्छा मिल जाता, तो हमारा विकास हो जाता ! जरा सोचो तो सही, जैसा मिला है, उसकी ममता छोड़ पाते हो ? हाँ, उस पर क्रोध करते हो, उस पर अपना अधिकार रखते हो। क्या

उसका त्याग कर पाते हो ? अगर आप उस साथी का त्याग कर सकते होते, तब भी आपको सिद्धि मिल जाती।

तो मैं आपसे पूछता हूँ—एक साथी जिसे आप नापसन्द करते हो उसकी ममता नहीं छोड़ पाते, तो फिर अगर पसन्द का साथी मिल जाता तो आप कभी छोड़ पाते ? मैं सच कहता हूँ, जिस किसी भाई को, जिस किसी बहन को जो कुछ मिला है, उसी में उसका विकास है। आज यह भूल जाने का फल क्या हुआ ? हम अप्राप्त का चिन्तन करते रहते हैं। और प्राप्त का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते, सदुपयोग नहीं करते। आप जानते हैं, अकर्त्तव्य का मूल क्या है ? प्राप्त का आदर न करना, प्राप्त का सदुपयोग न करना और अप्राप्त का चिन्तन करना।

अप्राप्त की कभी प्राप्ति होगी नहीं, नित्य प्राप्त की प्राप्ति होती है। प्रभु अप्राप्त नहीं हैं। प्रभु नित्य प्राप्त हैं, शान्ति नित्य प्राप्त है, स्वाधीनता नित्य प्राप्त है, त्याग और प्रेम आपको नित्य प्राप्त हैं। ये अप्राप्त नहीं हैं। तो जो नित्य प्राप्त है, उसी की प्राप्ति होगी। जो अप्राप्त है उसकी कभी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए जो भी आपको मिला है, आप उसका आदरपूर्वक स्वागत कीजिये। आप जानते हैं, जब हम मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत करने लगते हैं, तब उसकी निन्दा नहीं करते, तब उसे बुरा नहीं समझते। और जब हम किसी और की निन्दा नहीं करते, किसी और को बुरा नहीं समझते, किसी और के दोष नहीं देखते, तब हमें अपने आप अपने दोष दिखाई देते हैं।

आपको जो दोष देखने की शक्ति मिली है, वह निरर्थक नहीं मिली है, उसका जीवन में उपयोग है, पर अपने प्रति है। तो जिसका उपयोग दूसरों के प्रति था, उसको करने लगे अपने पर। अपने को क्षमा कर देंगे। हमको क्रोध आ गया, तो कहेंगे कि क्यों न आ जाता ? परिस्थिति ऐसी हो गई। यानी हमको क्रोध आ गया—यह तो कोई ऐसी बात नहीं हुई जो नहीं होनी चाहिये। किन्तु दूसरे ने भूल की तो वह ऐसी की, जो नहीं करना चाहिये। यह हमारा न्याय नहीं है, यह घोर अन्याय है। यह हमारी भूल है, हमारी असावधानी है।

किसी भी भाई को, किसी भी बहन को, किसी को किसी का दोष देखने का कभी भी अधिकार नहीं है। जब हम पर-दोष-दर्शन नहीं करेंगे, किसी को बुरा नहीं समझेंगे, तब हमें स्वयं अपने दोष का दर्शन होगा। मैंने अभी निवेदन किया था कि दोष का दर्शन निर्दोषता में होता है। जिस समय आप अपना दोष देखते हैं और दिखाई दे जाता है, उस समय आप दोषी नहीं होते। उस समय आप निर्दोष होते हैं। किन्तु भूल क्या करते है कि अपना दोष देखते हैं तो कहते हैं—'हाय! हम तो बड़े पापी हैं। क्यों ?' 'हमने यह पाप किया।' कब ? बोले, 'भूतकाल में'। भूतकाल में पापी थे कि वर्तमान में पापी हैं ?

अपने दोष का दर्शन – यह सत्संग है। किन्तु भूतकाल के दोष के आधार पर वर्तमान में दोषी मान लेना—यह असत्-संग है। तो हमें भूतकाल के दोष को देखना है, जानना है। किन्तु वर्तमान की निर्दोषता में अविचल आस्था रखना है।

यदि आप कुछ भी न करें, तब भी निर्दोष हैं, दोषी नहीं हो सकते। कुछ न करने से कोई दोष नहीं हो सकता। गलत करने से न! दोषी होते हैं। कुछ न करने से कोई थोड़े ही दोषी होता है! असमर्थ होने से थोड़े ही कोई असफल हुआ है! सामर्थ्य के दुरुपयोग से असफल हुए हैं।

इसलिए मेरे भाई! कभी-भी निराश होने की जरूरत नहीं है। आपका मानव-जीवन बड़ा ही अनुपम जीवन है, अद्भुत जीवन है। क्यों? इसी जीवन में सद्गति होती है। इसी जीवन में दुःख निवृत्ति होती है। इसी जीवन में परमानन्द की प्राप्ति होनी है। आप इस जीवन को अगर अनुपम जीवन नहीं मानते हैं, यदि आप इस जीवन का आदर नहीं करते हैं, स्वागत नहीं करते हैं, इसके महत्त्व को नहीं जानते हैं, तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करते हैं। इसलिए प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को मानव होने के नाते इसमें अविचल आस्था करना चाहिए कि हम सफल हो सकते हैं। यह जीवन सफलता के लिए मिला है। इस जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु इसका उपाय है एक-मात्र अपने जाने हुये असत् का त्याग। असत् का त्याग और सत् का संग युगपद् हैं।

जब हम असत् का त्याग करते हैं, सत् का संग होता है। सत् का संग होते ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयतारूपी जो साधन है उसकी अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है अर्थात् सुन्दर समाज के निर्माण में आपका सहयोग हो जाता है। असंगता से जीवन अपने लिए उपयोगी होता है।

और आत्मीयता से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी होता है। यह मानव का अपना चित्र है। मानव को अपने इस महत्त्व को नहीं भूलना चाहिए। परन्तु इसके साथ-साथ बड़ी ही सजगतापूर्वक इस बात पर दृष्टि रखना चाहिए कि ये मानव-जीवन में जो सौन्दर्य है वह उस निर्माता की देन है, यह व्यक्तिगत उपार्जन नहीं है। अतः आपको उस अनन्त ने इतना सुन्दर बनाया है कि आप जगत् के प्यारे हैं और प्रभु के दुलारे हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

२७

भक्ति पाँच बातों से प्राप्त होती है—

(अ) मैं प्रभु की जाति का हूँ।

(ब) उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है।

(स) वे अपने हैं।

(द) मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिये।

(य) मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ उनका है।

श्रीकृष्ण चरित्र में प्रेम-स्वरूप गोपियों का जीवन आदर्श है। उनके पास अपना मन नहीं है, अपना कोई संकल्प नहीं है। उनके पास जो कुछ है, वह सब श्रीकृष्ण का है। उनका व्रत केवल अपने प्रेमास्पद को रस देना है। इसी का नाम भक्ति है।

प्रेम ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि प्रेमी का सारा शरीर प्रेम के परमाणुओं से निर्मित हो जाता है।

समस्त वस्तुओं का निर्माण प्रभु ने मानव के लिये किया है; और मानव का निर्माण अपने लिये।

भक्त-जन स्वयं को प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये समर्पित कर देते हैं। रामावतार एवं कृष्णावतार में भगवान् के विविध परिकरों के उत्तम चरित्र में यह भाव भरे पड़े हैं।

२७

अ

परिचय :

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा

भाइयो और बहनो !

मानव-जीवन की पूर्णता नित-नव रस की अभिव्यक्ति में है। और रस का स्रोत एक-मात्र अगाध प्रियता में है। अगाध प्रियता किसी अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, एक-मात्र आत्मीयता से, अपनेपन से प्राप्त होती है। तो जो साधक सुने हुये प्रभु को अर्थात् जिसे इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा है, केवल अविचल आस्था श्रद्धा, विश्वास के आधार पर अपना मान लिया है, उसमें जो आत्मीयता स्वीकार कर ली है—यह मान लिया है कि वे अपने हैं—इसी का नाम भक्ति है।

यह भक्ति पाँच बातों से प्राप्त होती है। सबसे पहली बात यह है कि साधक को यह मान लेना चाहिये कि मैं उस प्रभु की जाति का हूँ। जिस धातु से प्रभु बने हैं उसी धातु का मैं हूँ। मुझमें-उनमें कोई जातीय भेद नहीं है। दूसरी बात—उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है; पहले भी था अब भी है, आगे भी रहेगा। और तीसरी बात यह कि वे अपने हैं। चौथी बात यह कि उनसे कुछ नहीं चाहिये, उनसे कुछ लेना नहीं है।

और पाँचवीं बात यह कि अपने पास जो कुछ है वह उन्हीं का है, अपना नहीं है। इन पाँच बातों से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन भक्त हो जाते हैं। भक्त होने से स्वतः अपने आप भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

जब तक किसी और को अपना मानेंगे, तब तक प्रभु को अपना कैसे मान पायेंगे ! जब तक कुछ चाहेंगे, तब तक आत्मीयता सजीव कैसे होगी ! तो, जिसको लोग निर्विकारता कहते हैं, जिसको लोग मुक्ति कहते हैं, वह भक्ति का सहयोगी साधन है। इस दृष्टि से शान्ति और स्वाधीनता के पश्चात् मानव भक्त होता है। जो अशान्त है, जो पराधीन है, जिसे कुछ चाहिए, जिसके पास उसका अपना करके कुछ है, वह भक्त नहीं हो सकता। वह भक्त नहीं हो सकता। किन्तु आपका भूतकाल कैसा रहा है, आपकी परिस्थिति कैसी है, आप में योग्यता कितनी है, आप क्या करते हैं—इन सब बातों से भक्ति का कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि यदि आपके पास अमुक योग्यता नहीं है तो आप भक्त नहीं हो सकते—ऐसी बात नहीं है। आपमें अमुक प्रकार की सामर्थ्य नहीं है तो आप भक्त नहीं हो सकते—ऐसी बात नहीं है। हाँ, चाहे जैसे हों, और भूतकाल आपका चाहे जैसा बीता हो, किन्तु यदि वर्त्तमान में आप यह स्वीकार करलें कि प्रभु ! आप मेरे हैं, सब कुछ तेरा है—बस, भक्त हो गये। इतनी स्वीकृति-मात्र से भक्त हो गये। क्यों ? जब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रहा तो आप निर्विकार, निष्काम हो ही जायेंगे, स्वाधीन हो ही जायेंगे। और जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु अपने हैं, तो अपने होने से वे प्यारे लगेंगे।

आपने सुना होगा कि जब शरद पूर्णिमा के दिन श्याम सुन्दर ने बंशी बजाई थी, तब गोपियाँ जो जिस स्थिति में थीं उसी स्थिति में, उसी दशा में ज्यों-की-त्यों वन की ओर चल दीं। उनकी दशा का जो वर्णन है, वह इतना सुगम तो है नहीं, इतना है कि वर्णन करने के लिए बहुत समय चाहिए। किन्तु सारांश उसमें इतना ही है कि अगर कोई गोपी एक आँख में काजल लगा चुकी थी, तो उसी दशा में चल दी। यानी अस्त-व्यस्त दशा में। आप जानते हैं, काम का उद्‌गम क्या है ? कामी का स्वभाव क्या है ? काम का उद्‌गम है— अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता में आस्था अथवा शरीर को सजाने का प्रयास। स्वस्थ रखना काम नहीं है। लेकिन यह जो आज-कल की प्रथा के अनुसार ड्रेसिंग रूम है न ! उसको ड्रेसिंग रूम कहते हैं। उसको कहना चाहिए— कामघर। वहाँ जाकर आदमी एक बनावटी ढंग से, आधुनिक ढंग से अपने शरीर को सजाता है। जिनमें काम नहीं रहता, उनमें शरीर को सजाने की बात ही नहीं आती।

इसलिए गोपियाँ जिस दशा में थीं उसी दशा में चल दीं और जब वन में पहुँचीं, तो श्याम सुन्दर ने कहा—'हे गोपियो ! क्या तुम रास्ता भूल गई हो, जो इस समय वन में आई हो रात में ?' गोपियों ने कहा—"महाराज ! हम रास्ता नहीं भूल गई हैं।" 'तो क्या तुम यह नहीं जानतीं कि वेद का धर्म क्या है ? वेद ने क्या बताया है ? वेद ने बताया है कि रात्रि के समय पर स्त्री को पति या पुत्र के साथ रहना चाहिये। तुम वन में कैसे आगईं ?' गोपियों ने कहा—"हे श्याम सुन्दर ! हम आपको आचार्य बनाने कहीं आईं, गुरु

बनाने को नहीं आई।" कृष्ण ने कहा 'तो क्यों आई ?' तो उन्होंने कहा—"हम तो इसलिये आईं थीं कि हमें देखकर आप प्रसन्न होंगे। आपको रस मिलेगा हमारे देखने से। हम इसलिये आईं। और जहाँ आप जाने की कहते हैं वहाँ तो हमारा तृण के समान भी सम्बन्ध नहीं है। एक बात। दूसरी बात यह है महाराज! कि मन के बिना तन कैसे जाय ! हमारे पास हमारा मन नहीं है।"

अब आप विचार कीजिये, मन किसके पास नहीं होता ? जो निष्काम हो। तो मन किसका नहीं होता ? जो निर्मम हो। इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि गोपियाँ निर्मम भी थीं और निष्काम भी थीं। उस पर भी श्याममुन्दर ने कहा—'तुम जाओ।, तब गोपियों ने कहा—"हे धर्म के आचार्य ! तुम यह बताओ कि किसी का पति कहीं चला गया हो और अपनी प्रतिमा बनाकर दे गया हो और यह कह गया हो कि तुम इसकी सेवा पूजा करना, तो स्त्री को क्या करना चाहिये ?" 'तो उसकी सेवा-पूजा करनी चाहिये।' "और जब उसका असली पति आजाय, तब क्या करना चाहिये ? तब उसे उस प्रतिमा की पूजा करनी चाहिये या उस असली पति से प्रेम करना चाहिये ?" 'भाई ! तब तो उसे असली पति से प्रेम करना चाहिये।'

तो गोपियों ने कहा—"हे श्याम सुन्दर ! हे धर्माचार्य ! तुम यह तो बताओ, जगत् का पति कौन है ? यह हमको बताओ, जगत् का प्रकाशक कौन है ? जगत् का पति कौन है? यदि आप जगत् के पति हैं तो बताइये, हम असली पति को छोड़ कर कैसे जायँ ?" इस पर भी श्याम सुन्दर ने कहा—

'जाओ।' तब गोपियों ने अन्त में एक बात कही, और यह कहा—"कि महाराज! जहाँ आप जाने की बात कहते हैं, वहाँ तो हमारा सम्बन्ध ही नहीं है, और हमारे पास हमारा मन ही नहीं है, जो हम जायँ। हम तो बे-मन की हैं। इस पर भी यदि आप हमें देखकर प्रसन्न नहीं होते, तो अब हम सब भस्म हो जायेंगीं। और जब हम विरहाग्नि में भस्म होजायँ, तब आप एक बार उस भस्म के ऊपर से निकल जाना।"

यहाँ एक बड़ा दार्शनिक रहस्य है। आप जानते हैं, जिस समय अहं रूपी अणु नहीं रहता, उस समय उस अनन्त में यह सामर्थ्य नहीं रहती कि वह त्याग कर सके। तात्पर्य क्या निकला? जिसने अपने प्रेमास्पद को रस देने के लिये ही अपने को स्वीकार किया है, जिसका यह व्रत है कि प्रीतम को रस मिले, वही भक्त है। भक्त का अर्थ यह नहीं है कि भक्त को भगवान से कुछ लेना है। जिसे भगवान् से कुछ लेना है, वह तो भक्त है ही नहीं

आप जानते ही हैं कि आपसे कोई कहे कि आप हमें अपनी मोटर दे दें, और फिर कहे कि हम आपके बड़े भक्त हैं। तो आप कहेंगे कि आप मेरे भक्त हैं कि मोटर के भक्त हैं? भक्त उसे नहीं कहते जिसे कुछ भी चाहिये। जिसे कुछ भी चाहिये वह भक्त नहीं है। आप कहेंगे कि जब हमें कुछ चाहिये ही नहीं तो फिर हम क्यों किसी को अपना मानें? यही तो भक्ति में विलक्षणता है कि कुछ न चाहने पर भी वे अपने हैं, और अपने को प्रिय हैं। देखिये अपना मान लेने का अर्थ क्या है? अपने को प्यारा लगे! तो जिसका कोई प्रिय है उसी का नाम भक्त है। और उस प्रियता का नाम ही भक्ति है। तो भक्ति क्या हुई? किसी की प्रियता!

अब यह प्रियता जो है वह शरीर-धर्म नहीं है। यह स्वधर्म है। प्रियता अपने में होती है। यानी आपमें प्रियता जाग्रत होगी, न कि आपके तन में, न कि आपके मन में, न आपकी बुद्धि में। इन सबमें प्रियता जाग्रत नहीं होती। इन सब पर तो आपकी प्रियता का प्रभाव होता है। जैसे—आसक्ति अपने में होती है, दिखाई मन में देती है। दिखाई देती है मन में और होती है अपने में। उसी प्रकार जब अपने में प्रियता जाग्रत होती है, तब उसका प्रभाव शरीर पर होता है, इन्द्रियों पर होता है, प्राणों पर होता है। और इतना गहरा प्रभाव होता है कि सारा शरीर प्रीति के परमाणुओं से निर्मित हो जाता है। परन्तु यह भक्ति बिना निर्ममता, निष्कामता-पूर्वक आत्मीयता के बिना प्राप्त नहीं होती। आप सोचते होंगे कि हम इन्द्रियों के द्वारा किसी अभ्यासपूर्वक भक्ति प्राप्त करेंगे—सो बात नहीं है।

भक्ति में समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, प्राण आदि सब अपने-अपने स्वभाव को छोड़कर प्रियता में परिवर्तित हो जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जब प्रेमी प्रेमास्पद को देखता है, तब उसकी सारी इन्द्रियाँ नेत्र में विलीन होती हैं। जब उनकी बात सुनता है, तो सारी इन्द्रियाँ श्रोत्र में विलीन होती हैं। जब उसके सम्बन्ध में सोचता है, तो सारी इन्द्रियाँ मस्तिष्क में विलीन होती है। प्रेमी की सर्व इन्द्रियाँ एक इन्द्रिय में विलीन हो जाती है। किन्तु ज्यों-ज्यों प्रियता बढ़ती जाती है, सबल होती जाती है, स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण शरीर ये सब प्रीति में परिणत होते चले जाते हैं। अर्थात् शरीर की आकृति रहते हुए भी वह सारा शरीर प्रेम

के परमाणुओं से अर्थात् प्रेम की धातु से निर्मित हो जाता है। इसी का नाम असल में भक्ति है। और वह एक प्रकार का रस है। और ऐसा अनुपम रस है कि जिस रस की माँग भगवान् को भी है। भक्ति-रस की माँग भगवान् को भी है अर्थात् भक्ति भगवान् को रस देती है।

किन्तु कब प्राप्त होती है? जब मुक्ति भी सन्तुष्ट न कर सके, तब प्राप्त होती है। अर्थात् जिसे मुक्ति भी खारी लगती है, उसे भक्ति प्राप्त होती है। और मुक्ति किसे प्राप्त होती है? जिसके जीवन में सुख का प्रलोभन नहीं रहता अर्थात् जिसे सुख नहीं भाता। सुख जिसको अच्छा नहीं लगता, उसको मुक्ति मिलती है। और मुक्ति जिसे नहीं अच्छी लगती, उसको भक्ति मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि सुख का प्रलोभन नाश होने से दु:ख की निवृत्ति होती है, और सुख का प्रलोभन नाश होता है। किन्तु मुक्ति का कभी नाश नहीं होता। क्यों? इसलिए नाश नहीं होता कि मुक्ति में भी देह का अभिमान गल जाता है, देह से सम्बन्ध नहीं रहता। तो जब देह से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कर्म में, चिन्तन में, स्थिरता में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। और जब इन सबमें जीवन-बुद्धि नहीं रहती, तब पराधीनता नहीं रहती। तो पराधीनता का अत्यन्त अभाव कहो, अथवा मुक्ति कहो—एक ही चीज है। परन्तु उस स्वाधीनता को प्रियता के लिये समर्पित कर देता है, कौन? भक्त!

आप कहेंगे, क्यों समर्पित कर देता है? स्वाधीनता का अनुभव आप करते हो। पराधीनता से पीड़ित भी आप थे।

तो जो पराधीनता से पीड़ित था, वही न ! यह कहता है—मैं स्वाधीन हूँ। तो स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी हुई, प्रभु के लिए उपयोगी नहीं हुई। लेकिन प्राप्त कैसे हुई ? स्वाधीनता आपको कैसे प्राप्त होती है ? प्रभु के दिये हुए विवेकरूपी प्रकाश के आदर से। मुक्ति विवेक-सिद्ध है न ! और विवेक आपको मिला है। जैसे—भक्ति कर्म सापेक्ष है। जितने भोग हैं, वे सब कर्म की अपेक्षा रखते हैं। यानी कर्म के ही द्वारा भोगों की सिद्धि होती है। लेकिन एक बात तो बताइये, कर्म-सामग्री किस कर्म के द्वारा सिद्ध होती है ? जी ? क्या विचार है आपका ? क्या कर्म-सामग्री भी किसी कर्म का फल हो सकती है ? अगर किसी कर्म का फल हो सकता है, तो कर्म का अनुष्ठान कैसे हुआ ? तो यह मानना पड़ता है कि कर्म-सामग्री भी कर्त्ता को किसी ने दी है।

तो जिसने आपको कर्म-सामग्री दी है—भोग प्राप्ति के लिए, उसी ने आपको विवेक दिया है—मोक्ष प्राप्ति के लिये। ये जो मोक्ष मिलती है वह विवेक से मिलती है। तो विवेक जिसने दिया है—मुक्ति के लिये, और कर्म-सामग्री जिसने दी—भोग प्राप्ति के लिए, उसके सम्बन्ध में आपका अपना क्या विचार हुआ ? आप सोचिये तो सही। अगर आप यह मान लें कि नहीं, विवेक हमारी निज की उपज है। तो फिर यह तो बताओ कि अविवेक आपके जीवन में क्यों आया ? अगर विवेक आपकी निज की उपज थी, तो अविवेक क्यों आया ? आपने विवेक का अनादर क्यों किया ? और यदि कर्म-सामग्री आपकी अपनी चीज थी, तो कर्म का अन्त क्यों हुआ ? कर्म अखण्ड होना चाहिए था, विवेक अखण्ड होना चाहिये था।

के परमाणुओं से अर्थात् प्रेम की धातु से निर्मित हो जाता है। इसी का नाम असल में भक्ति है। और वह एक प्रकार का रस है। और ऐसा अनुपम रस है कि जिस रस की माँग भगवान् को भी है। भक्ति-रस की माँग भगवान् को भी है अर्थात् भक्ति भगवान् को रस देती है।

किन्तु कब प्राप्त होती है? जब मुक्ति भी सन्तुष्ट न कर सके, तब प्राप्त होती है। अर्थात् जिसे मुक्ति भी खारी लगती है, उसे भक्ति प्राप्त होती है। और मुक्ति किसे प्राप्त होती है? जिसके जीवन में सुख का प्रलोभन नहीं रहता अर्थात् जिसे सुख नहीं भाता। सुख जिसको अच्छा नहीं लगता, उसको मुक्ति मिलती है। और मुक्ति जिसे नहीं अच्छी लगती, उसको भक्ति मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि सुख का प्रलोभन नाश होने से दु:ख की निवृत्ति होती है, और सुख का प्रलोभन नाश होता है। किन्तु मुक्ति का कभी नाश नहीं होता। क्यों? इसलिए नाश नहीं होता कि मुक्ति में भी देह का अभिमान गल जाता है, देह से सम्बन्ध नहीं रहता। तो जब देह से सम्बन्ध नहीं रहता, तब कर्म में, चिन्तन में, स्थिरता में जीवन-बुद्धि नहीं रहती। और जब इन सबमें जीवन-बुद्धि नहीं रहती, तब पराधीनता नहीं रहती। तो पराधीनता का अत्यन्त अभाव कहो, अथवा मुक्ति कहो--एक हो चीज है। परन्तु उस स्वाधीनता को प्रियता के लिये समर्पित कर देता है, कौन? भक्त!

आप कहेंगे, क्यों समर्पित कर देता है? स्वाधीनता का अनुभव आप करते हो। पराधीनता से पीड़ित भी आप थे।

तो जो पराधीनता से पीड़ित था, वही न ! यह कहता है— मैं स्वाधीन हूँ। तो स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी हुई, प्रभु के लिए उपयोगी नहीं हुई। लेकिन प्राप्त कैसे हुई ? स्वाधीनता आपको कैसे प्राप्त होती है ? प्रभु के दिये हुए विवेकरूपी प्रकाश के आदर से। मुक्ति विवेक-सिद्ध है न ! और विवेक आपको मिला है। जैसे—भक्ति कर्म सापेक्ष है। जितने भोग हैं, वे सब कर्म की अपेक्षा रखते हैं। यानी कर्म के ही द्वारा भोगों की सिद्धि होती है। लेकिन एक बात तो बताइये, कर्म-सामग्री किस कर्म के द्वारा सिद्ध होती है ? जी ? क्या विचार है आपका ? क्या कर्म-सामग्री भी किसी कर्म का फल हो सकती है ? अगर किसी कर्म का फल हो सकता है, तो कर्म का अनुष्ठान कैसे हुआ ? तो यह मानना पड़ता है कि कर्म-सामग्री भी कर्त्ता को किसी ने दी है।

तो जिसने आपको कर्म-सामग्री दी है—भोग प्राप्ति के लिए, उसी ने आपको विवेक दिया है—मोक्ष प्राप्ति के लिये। ये जो मोक्ष मिलती है वह विवेक से मिलती है। तो विवेक जिसने दिया है—मुक्ति के लिये, और कर्म-सामग्री जिसने दी— भोग प्राप्ति के लिए, उसके सम्बन्ध में आपका अपना क्या विचार हुआ ? आप सोचिये तो सही। अगर आप यह मान लें कि नहीं, विवेक हमारी निज की उपज है। तो फिर यह तो बताओ कि अविवेक आपके जीवन में क्यों आया ? अगर विवेक आपकी निज की उपज थी, तो अविवेक क्यों आया ? आपने विवेक का अनादर क्यों किया ? और यदि कर्म-सामग्री आपकी अपनी चीज थी, तो कर्म का अन्त क्यों हुआ ? कर्म अखण्ड होना चाहिए था, विवेक अखण्ड होना चाहिये था।

किन्तु आपको मानना ही पड़ता है कि आपने अपने ही जीवन में कर्म-सामग्री के अभाव को भी अनुभव किया है। आपने अपने ही जीवन में अविवेक को भी अनुभव किया है। तो जब आप विवेक का अनादर करते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि विवेक आपकी उपज नहीं हो सतकी, आपकी उपार्जित वस्तु नहीं है, आपको मिली है।

तो जिसने शान्ति के लिए, स्वाधीनता के लिये विवेकरूपी प्रकाश दिया, और कर्त्तव्य—पालन के लिये कर्म-सामग्री दी, उस प्रभु को आप अपना न मानें, उसमें आस्था न करें, उसमें श्रद्धा न करें, उसमें विश्वास न करें, तो क्या यह कृतघ्नता नहीं होगी? इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् यह बात चाहते हैं कि आप उनको अपना मानलें। यह बात नहीं है। आप उनको अपना मानते हैं, तब आपको वे प्यारे लगते हैं। और उनसे अपनत्व की बात अलग। भगवान् ने तो आपको विवेक भी दिया है न! आप भगवान् को मत मानिये। और आप विवेकपूर्वक असंगता के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लीजिये। आप कर्म-सामग्री के सदुपयोग द्वारा भोग प्राप्त कर लीजिए।

लेकिन भोग के परिणाम को आप नहीं मिटा सकते। भोग का परिणाम आपको अपनी रुचि के विरुद्ध भोगना ही पड़ता है। भोग को आप प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन परिणाम से अपने को नहीं बचा सकते। तो भोग का परिणाम क्या है? रोग और शोक। और मुक्ति से आपके दुःख की निवृत्ति हो सकती है, आपकी पराधीनता मिट सकती है, आपके जीवन में से जड़ता का अत्यन्त अभाव हो सकता है। अर्थात् चिन्मय अमर जीवन से आप अभिन्न हो सकते हैं।

आप अमरत्व में सन्तुष्ट हो जायँ। भगवान् आपसे कभी नहीं कहेंगे कि आप हमको आपना मानिये। किन्तु आप जानते हैं, मुक्ति का जो रस है, शान्ति का जो रस है, निर्विकारता का जो रस है—वह अखण्ड तो है, अविनाशी तो है, उसका नाश तो नहीं होता, परन्तु उसकी पूर्ति होती है। वह पूरा हो जाता है। जैसे—जिस वक्त आपको निर्विकारता प्राप्त हुई निर्मम होने से फिर आप यह नहीं कह सकते कि निर्विकारता के बाद निर्विकारता का कोई और भाग ऐसा रह गया है जो प्राप्त करना है। पूर्ति उसकी होती है। ऐसे ही स्वाधीनता की भी पूर्ति होती है। ऐसे ही निःसन्देहता की भी पूर्ति होती है। आप सन्देह-रहित हो जाते हैं। किन्तु प्रियता जो है उसकी कभी पूर्ति नहीं होती। पूर्ति न हो, निवृत्ति हो—उसकी निवृत्ति भी नहीं होती। अब आप सोचिये, न तो प्रियता की कभी पूर्ति होती है, न उसकी निवृत्ति होती है, न उसमें क्षति होती है। जिसकी क्षति न हो, जिसकी निवृत्ति न हो, जिसकी पूर्ति न हो—मानना पड़ेगा वह असीम है, अनन्त है, नित्य है। क्योंकि निवृत्ति नहीं होती इसलिये नित्य है।

तो जो प्रियता असीम है, अनन्त है, नित्य है, उस प्रियता से उस अनन्त को रस मिलता है। मानव का निर्माण, सच पूछिये तो प्रभु ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया। सारे जगत् का निर्माण मानव के लिये। जगत् क्या है ? कामना-पूर्ति की सामग्री। और क्या है जगत् ? और विवेक का निर्माण किया प्रभु ने मानव के लिये। क्योंकि भोग और मोक्ष मानव को मिल सकता है। वस्तुओं के द्वारा भोग मिल सकता है, विवेक के द्वारा मोक्ष मिल सकता है। तो समस्त वस्तुओं का

निर्माण प्रभु ने मानव के लिये किया किन्तु मानव का निर्माण अपने लिये किया।

आप कहेंगे, क्यों किया ? इसलिये किया कि मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है कि जो प्रभु को अपना कह सकता है, उनमें आत्मीयता स्वीकार कर सकता है—ऐसा प्राणी मानव है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो जगत् से निराश होकर, जगत् से असंग होकर अपने आप में सन्तुष्ट हो सकता है। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो समस्त विश्व के दुःख को देख करुणित हो सकता है, दूसरों के सुख को देख प्रसन्न हो सकता है।

ये तीन बातें—प्रभु में आत्मीयता, सुखियों को देख प्रसन्न होना, दुःखियों को देख करुणित होना और असंगतापूर्वक स्वाधीन हो जाना—ये बातें मानव-जीवन में ही साध्य हैं। और किसी जीवन में साध्य नहीं हो सकतीं। किन्तु इन तीनों में रस है। करुणा में भी रस है, प्रसन्नता में भी रस है। इसका अर्थ क्या हुआ ? उदारता में रस है, क्योंकि उदारता के ही दो भाग हैं—एक करुणा और एक प्रसन्नता। उदार-मानव ही सुखियों को देख प्रसन्न और दुःखियों को देख करुणित होता है।

तो उदारता में भी रस है और असंगता में भी रस है, निष्कामना में भी रस है किन्तु प्रियता में जो रस है वह अनुपम है, अलौकिक है, अनन्त है। और जीवन में रस की ही माँग है। इस दृष्टि से जब आप विचार करेंगे, तो जो सर्वोत्कृष्ट रस है, उसका नाम भक्ति है। और उसकी प्राप्ति किसको होती है ? जो प्रभु को अपना मानता है। यह समझ कर नहीं कि वे महान् हैं, जगत् के प्रकाशक हैं, आश्रय हैं, मालिक हैं वह प्रभु को अपना नहीं मानता।

वह तो प्रभु के दिये हुए विवेकपूर्वक मुक्ति का आनन्द लेता है और कर्म-सामग्री से भोग का आनन्द लेता है। प्रभु को अपना वह मानता है जिसको भोग और मोक्ष नहीं चाहिये। भोग भी नहीं चाहिये, मोक्ष भी नहीं चाहिये। परन्तु इन दोनों में अन्तर क्या है ? भोग के न चाहने से भोग की निवृत्ति होती है। और मोक्ष के न चाहने से मोक्ष की निवृत्ति नहीं होती, प्राप्ति होती है। यानी मोक्ष को अगर आप न चाहें, तब भी आपको मुक्ति मिलेगी। लेकिन भोग को न चाहें तो भोग की निवृत्ति होगी।

तो निवृत्ति जिसकी होती है, उसका नाम भोग है, उसका नाम काम हैं, उसका नाम आसक्ति है। और प्राप्ति जिसकी होती है, निवृत्ति नहीं होती, उसका नाम मोक्ष है। तो उस मोक्ष से भी जिसमें अधिक रस है उसका नाम है—भक्ति।

एक बार एक भक्त से मिलने का अवसर मिला। तो मैंने उनसे चर्चा करते हुए कहा—"असंगता में भी रस है।" उन्होंने बड़े सुन्दरतापूर्वक यह कहा कि "ठीक है भैया"—भैया कहके सम्बोधित करते थे। "ठीक हैं भैया, हम सूखी रोटी खायँ, चटनी से क्यों न खायँ ?" असंगता में जो रस है वह रस तो प्रियता में है ही, परन्तु उसमें नित-नव वृद्धि है।

श्रम-साध्य भक्ति का रस नहीं है, विचार-साध्य भक्ति का रस नहीं है। विचार-साध्य मुक्ति का रस है। निष्कामता से साध्य शान्ति रस है। किन्तु आत्मीयता से साध्य भक्ति का रस है। और वह रस कितना अनुपम है ! कितना विलक्षण है ! इस सम्बन्ध का ठीक परिचय कब होता है, जब आप किसी भक्त के चरित्र को अपने सामने रखते हैं।

२७

ब

आपने सुना होगा कि भगवान राघवेन्द्र के जो परिकर हैं, जो उनके भक्त हैं, उनमें एक कैकेयी भो हैं। आप चौंक जायेंगे कि अरे ! वे क्या उनकी भक्त होंगीं, जिनने उनको वन भेज दिया। लेकिन एक बात तो सोचिये, यदि भगवान् राम के चरित्र में से वन का भाग निकाल दिया जाय तो भगवान् शबरी के बेर खा सकते हैं क्या ?—नहीं। जी ? नहीं। कोल-भीलों के कन्द-मूल फल खा सकते हैं क्या ? ऋषि-मुनियों के आश्रम में जाकर दर्शन दे सकते हैं क्या ? देवताओं का काम कर सकते हैं क्या ? भगवान् राम के चरित्र में जो कुछ महत्त्व है *वह वनवासी राम* का है कि राजा राम का है ?—वनवासी राम का। अच्छा ! राम के पार्षदों में से यदि महारानी कैकेयी को निकाल दिया जाय तो राम वन जा सकते हैं क्या ? आप लोग सोचते होंगे कि कैकेयी ने बड़ी भूल की कि जा राम को वन भेजा। भूल नहीं की राम के मन की बात पूरी की अपने को कलंकित करके।

अब आप सोचिये, भक्ति रस कैसा है ! राम ने स्वयं कैकेयी से कहा—"माँ, तुम मुझे वन भेज दो।" कैकेयी बड़ी हिचकिचाई, कहने लगीं—"राम ! प्यारे राम ! मैं वन तो भेज दूँगी। पर एक बात है कि तुम जब चाहते हो, तो मैं

कलंक सहूँगी, अपमान सहूँगी। क्यों ? तुम्हारे मन की बात पूरी हो—यों। परन्तु तुम चलते समय, वन जाते समय सुमित्रा जी से मत मिलना।" वे उस समय प्राइम मिनिस्टर थीं अवध के राज्य की। और यह नियम रहा है कि जो छोटा होता है न! उसका अधिकार ज्यादा होता है। बड़े में बड़ापन उदारता के कारण है, बड़े होने से नहीं। आज तो हम सोचते हैं कि हम बड़े हैं, इसलिए हमको आदर दो। यह प्राचीन प्रणाली नहीं है। और आपने देखा होगा कि गोस्वामीजी ने वन जाते समय कहीं नहीं दिखाया कि भगवान् राम सुमित्रा जी से मिलने गये।

अब राज-तिलक होने वाला है। अवध में बड़ा उत्साह हो रहा है। बड़ा उत्साह है हर एक के हृदय में कि कल राम राजा होंगे। और महाराजा दशरथ ने मन्त्रियों से, प्रजा से, गुरुजनों से परामर्श लेकर राम को राजा बनाने का निर्णय किया था। मन माने ढंग से नहीं कर लिया था। किन्तु हुआ क्या! महारानी कैकेयी ने कहा—"मेरा जो वचन आपके पास है, वह पूरा कर दो। मैं कुछ चाहती हूँ।" बोले, 'क्या चाहती हो ?'—"राम को वन भेज दो, भरत को राज्य दो। और चौदह वर्ष के लिए वन भेजो।" और वह भी कैसे ? वन में भी जाते दल-बल के साथ तो जहाँ राम तहाँ अवध हो जाता। सो नहीं—'तापस भेष, विशेष उदासी।' इसमें जरा विचार करना चाहिए। 'तापस भेष, विशेष उदासी—चौदह बरस राम बनवासी।'

"तपस्वियों का भेष बनाकर वन में जायँ, राजा बन कर वन में न जायँ। राजकुमार बन कर वन में न जायँ।" यदि

राम राजकुमार बनकर जाते तो जहाँ राम रहते वहाँ अवध हो जाता। विचार कीजिये। "और आजीवन के लिए न जायँ। चौदह बरस के लिये जायँ। और भरत को राज्य दिया जाय।"

अगर उन्हें अपने लड़के को राज्य दिलाना था तो केवल यही माँग लेतीं कि भरत को राज्य दो और सदैव के लिये राज्य दो। भला, क्या कोई भी आदमी, कोई भी माँ अपनी सन्तान से अपरिचित होगी ? क्या महारानी कैकेयी इस बात से अपरिचित थीं कि श्री भरतजी में और राम में कितना प्रेम है ? कभी नहीं भली भाँति परिचित थीं। राम को वन की आज्ञा हो गई महाराजा दशरथ अत्यन्त अधीर हो गये, व्याकुल हो गये। जो पत्नी पति के प्यार की पात्र है वह पति के द्वारा अपमानित होने लगीं। जो कुछ कह सकते थे, कहा, किया, बचा के नहीं रखा। आप जानते हैं, पुत्र के द्वारा माता पूज्य हैं। भरत द्वारा भी कैकेयी का अपमान हुआ, पति के द्वारा भी अपमान हुआ।

लेकिन आप देखेंगे, प्रेमियों के जीवन में, अम्मा कौशल्या ने लखनलाल ने किसी ने अपमान किया क्या ?—नहीं अपमान किया। क्योंकि प्रेमियों के जीवन में किसी से द्वेष होता ही नहीं। यह प्रेम जो हैं, इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं। इसलिये इसकी पूर्ति नहीं होती। तो महाराज दशरथ ने जब वन की आज्ञा दे दी। अब प्रातः काल अम्मा कौशल्या इस उत्साह में बैठीं थीं कि राम लला आवेंगे, मैं उनका आरता उतारूँगी, पूजन करूँगी, क्योंकि आज मेरा लाल राजा बनेगा।

आये राम, किन्तु बड़े संकोच में। राम बड़े संकोच में कि माँ के हृदय को कहीं आघात न पड़ जाय। कहने लगे—"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है।" अम्मा कहने लगीं—"देखो राम ! यदि पिता ने तुमको बन का राज्य दिया है, तो मैं माँ हूँ, मैं अवध का राज्य दे सकती हूँ। लेकिन अगर तुम्हारी कैकेयी मैया ने वन का राज्य दिया है, तो वन चले जाओ।" कहीं विद्रोह नहीं हुआ, संघर्ष नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ ? सब जानते थे कि कैकेयी को राम अत्यन्त प्यारे हैं। महाराजा दशरथ ने भी कहा—"अरी कैकेयी ! तेरी क्या बात है ? क्या तू सोचती है ? तुझे तो राम बड़े प्यारे लगते थे। तू क्यों वन भेजती है ?"

इस रहस्य को तो प्रेमी जानते हैं कि कैकेयी इसलिये वन भेजती हैं कि राम चाहते हैं कि वन जाऊँ। राम चाहते है कि मैं वन जाऊँ। महाराज ! यह समाचार लखनलाल जी ने सुना, महारानी सीता ने सुना। लखनलाल ने कहा—"मैं भी साथ चलूँगा।"

मैं तब तीसरे दर्जे में पढ़ता था तव पढ़ा था—"रहौ तात, अस नीति विचारी।" यहाँ से आरम्भ होता है। बहुत समझाया राम ने और कहते-कहते यहाँ तक कह दिया राम ने—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी। अरे भैया ! देखो अगर प्यारी प्रजा दुःखी होगी, तो राजा नरक में जायेगा। तुम प्रजा के लिये सेवा करो। माता-पिता वृद्ध हैं, उनकी सेवा करो। तुम वन मत जाओ।" लखनलाल ने कहा—"प्रभु ! एक बात पूछता हूँ कि यह जो आप धर्म और नीति का उपदेश करते हैं, यह तो उसे करें,

जिसे कुछ चाहिये ।" अधीर होकर लखनलाल ने कहा—"मन, क्रम, वचन, चरण रत होई; कृपा सिन्धु परिहरहिं कि सोई ।" राम का मुँह बन्द होगया । तब कहा—"अच्छा भैया, चलो ।"

महारानी सीता ने कहा–"कै तन-प्रान, कि केवल प्राना ! या तो तन और प्राण दोनों आपके संग जायँगे अथवा केवल प्राण जायेंगे ।" राम चुप हो गये । आप जानते हैं, उर्मिला जी भी जनकपुरी की हैं, महारानी सीता की सहचरीहैं, सखी हैं, अत्यन्त अभिन्न हैं । जब एक बहन यह आदर्श स्थापित करती है कि पति के साथ जाना चहिये । उर्मिला चुप है । क्यों चुप हैं ? प्रेम का यह अर्थ नहीं है कि प्रियतम हमारे मन की बात करें । प्रेम का अर्थ यह नहीं है । उर्मिला ने सोचा—"मेरा पति सेवक बनकर जा रहा है । सेवक को नारी रखने का अधिकार नहीं है ।" तो पति के धर्म की रक्षा के लिये उर्मिला जी ने अपने प्रिय के वियोग की असह्य वेदना मूक होकर सहन की महाराज ! मूक होकर सहन की ।

राम वन को चले गये । अवध में हा-हाकार हो गया ! महाराज दशरथ तो इतने अधीर हुये, इतने बेचैन हुये राम के वियोग से कि सुमन्त से कह दिया कि तुम वन में घुमा-फिरा कर इनको ले आना, तो मेरे प्राण बच सकते हैं । राम ने महाराजा की इस बात बिल्कुल परवाह नहीं की । ओर कह दिया—"खोज मार रथ हाँकहुँ ताता । हे तात, हे सुमन्त जी ! पिता के समान हैं आप ! ऐसे रास्ते से चलों, जो लोगों को निशान नहीं मिलें ।"

परन्तु जब भरत जी अवध में आये । और उन्होंने देखा कि हाय ! राम वन को चले गये, पिता परलोक सिधार गये

और सारे अवध में हाहाकार !! है। आप देखिये, एक ओर से सबका मत है भरत के साथ—राज्य करो, पिता ने दिया ही है, कैकेयी माँ ने दिया ही है। अम्मा कौशल्या ने कहा कि राज्य करो। गुरु वशिष्ट ने कहा कि राज्य करो। मन्त्रियों ने कहा कि राज्य करो, प्रजा ने कहा कि राज्य करो। किसी का विरोध नहीं है एक तरफ से। और ये सब धर्म हैं—प्रजा की बात मानना मन्त्रियों की बात मानना, माता की, पिता की, गुरु की बात माना—ये सब धर्म हैं। सारे धर्म श्री भरतजी के सामने मौजूद हैं। किन्तु उनके हृदय में एक व्यथा है। और यह व्यथा क्या है ?—हाय ! मैं अवध में राज्य करूँ और भगवान राम नंगे पैरों वन में विचरें ! महारानी सीता नंगे पैरों वन में विचरें ! भैया लखनलाल नंगे पैरों वन में विचरें !—यह व्यथा भरत के लिये असह्य हैं।

भरत ने कहा कि मैं बड़ा ही पातकी हूँ, अधम हूँ कि मेरे लिये प्रभु वन में गये ! मैं उस समय तक कुछ निर्णय नहीं कर सकता, जिस समय तक प्रभु से न मिल लूं। और वे जब मिलने के लिए चित्रकूट आये हैं, उनकी दशा का वर्णन करें तो वहुत समय हो जाय। और मुझे मालूम भी नहीं। मुझ जैसे अनपढ़ को क्या मालूम भाई ! किन्तु एक बात आप देखेंगे कि जब राम और भरत का मिलन हुआ है, तब गोस्वामी जी ने एक वात बड़ी सुन्दर कही—"परम प्रेम पूरन दोऊ भाई।" (जीव और ब्रह्म) मन, बुद्धि, चित अहमिति बिसराई।" दोनों प्रेम से पूर्ण हैं। दोनों ही में न अहम् है, न बुद्धि है, न चित्त है। बेमन के दोनों हो गये।

जब बेमन के दोनों हो गये तब भरत का मन रघुनाथ जी के पास आ गया और रधुनाथ जी ने कहा—"भैया भरत ! जो

तुम कहोगे, सो करूंगा।" आप जानते हैं, यह सुनकर देवता लोग घबरा गये। ऋषि-मुनि आचर्श्य में डूब गये—हाय ! हाय !! अब क्या होगा ! क्योंकि सब जानते थे कि भरत को यह दु:ख था कि प्रभु नंगे पैरों वन में न रहें, अवध में राज्य करें और मैं आजीवन वन में बास करूं। भरत जी अपने व्यक्तिगत सेवा-जनित सुख से अपने को अलग रख सकते थे, दर्शन-जनित सुख से अपने को अलग रख सकते थे, किन्तु प्रभु नंगे पैरों वन में घूमें—यह व्यथा भरत के लिए असह्य थी। भगवान् ने कह दिया—"भैया भरत ! जो तुम कहोगे, सो मै करूँगा।"

अब आप देखिये, भक्त और भगवान् में कितना अगाध प्रेम है ! ये दोनों ही प्रेमी हैं। भगवान् ने जब अपने मन को छोड़ दिया, अब भरत को और तकलीफ हुई। भरत कहने लगे—"हाय ! हाय !! प्रभु मुझ अधम प्रेमी के लिए आप अपनी मर्यादा का उल्लंन करें ! प्रेमी पिताजी थे, जिन्होंने आपके वियोग में प्राणों का परित्याग कर दिया। प्रेमी भैया लखन-लाल हैं, जो आपका वियोग नहीं सह सकते। प्रेमी जगदम्बा सीता हैं, जो आपके साथ वन में विचरती हैं, नंगे पैरों घूम रही हैं। उनके लिए प्रभु ! आपने अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। और मुझ अधम प्रेमी के लिए आप अपनी मर्यादा का उल्लंघन करते हैं ! यह व्यथा मुझसे नहीं सही जाती !

अब आप देखिये। प्रभु का अपना मन भरत के पास आ गया, भरत का मन प्रभु के पास है। अन्त में प्रभु अधीर होते हैं, और कहते हैं—"भैया भरत तुम बताओ, मैं क्या

करूँ ?" अहं भक्त पराधीनः—यह भक्ति रस की महिमा है। —"तुम बताओ, भैया भरत ! मैं क्या करूँ ?" भरत कहने लगे—"हे प्रभु ! अब तो यही चाहता हूँ कि यदि वन की अवधि पूरी होने पर, समय पूरा होने पर, आप अवध में नहीं पधारेंगे, तो भरत के प्राण नहीं पायेंगे।" राम ने कहा— "अच्छा भैया !" उनकी चरण-पादुका ली और उनको राजा माना। और एक तपस्वी की भांति, वनवासी की भाँति भरत निरन्तर राम का काम करते रहे।

भक्ति आपको संन्यासी नहीं बनाती। भक्ति आपको वर्त्तमान कार्य से नहीं छुटाती। क्योंकि भरतजी ने सारा राम का काम किया, या अपना काम किया ? आप जानते हैं, प्रेमी वह नहीं होते कि भगवान् तो प्यारे लगें और संसार खारा लगे—उसे प्रेमी नहीं कहते। आपने सुना होगा कि एक बार अम्मा कौशल्या अत्यन्त व्याकुल हो गईं। प्रेमियों की दशा देखिये। अम्बा कहती हैं – 'सुमित्रे ! हे सखी ! तू सच बता, यह राम का वन-गमन सच है कि झूठ है ? मैं नहीं जान पाती। क्यों ? 'लगे रहत मेरे नयनन आगे, राम लखन और सीता। तौ हूँ न मिटत दाह जा उर कौ, विधि जो भये त्रिपरीता॥ निरन्तर मेरी दृष्टि में राम, लखन और सीता हैं। पर सखी ! मेरे हृदय का दाह नहीं मिटता। अब सोचती हूँ, दुःख न रहत रघुपतिहि विलोकत।' रघुनाथजी को देखने-मात्र से दुःख नहीं रहता—और "तन न रहे बिन देखे, बिना देखे प्राण नहीं रहता। सखी ! ऐसी उलझ गई हूँ। मैं देखती भी हूँ, पर दुःख नहीं मिटता। यदि राम का वन-गमन सत्य है तो प्राण क्यों ? प्राण क्यों ?"

अम्बा अधीर होती हैं। उसी क्षण मूर्छित हो जाती हैं। फिर होश आता है, बाहर को निकलती हैं। और जब निकलती हैं तो राम के घोड़ों पर उनकी दृष्टि पड़ती है। क्या घोड़ों की दशा है ! जिस ओर राम गये हैं, उसी ओर घोड़े टकटकी लगाये देख रहे हैं, आँसू बह रहे हैं, तृण मुख में हैं, न निगल पाते हैं, न उगल पाते हैं। घोड़ों की इस अधीर व्याकुल दशा को देख अम्बा अपना दुःख भूलती हैं। और घबराकर कहती हैं—"ओरे पथिक ! ओरे पथिक ! अरे भैया सुनिये क्षो सही जरा।" बोले, माँ क्या बात है ?' "देख-देख, तू वन में जा रहा है न ! तो देख, राम से कहना कि वे एक बार इन घोड़ों की दशा देख जायँ। मुझसे इनकी दशा नहीं देखी जाती।" राम के घोड़े दुःखी हैं, अम्बा दुःखी हैं।

तात्पर्य क्या ? भक्ति-रस में सर्वात्म-भाव है, अपने सुख को गंध भी नहीं है। आप जानते हैं, जिस सयय लका में विजय हुई और श्री विभीषण जी ने कहा—"प्रभु, नगर में पधारो।" कहने लगे—"भैया विभीषण ! तुम नहीं जानते। एक दिन रह गया है, यदि मैं अवध नहीं पहुँचा, तो भैया भरत का प्राण नहीं रहेगा।" बिल्कुल यही दशा श्री भरतजी का है। "हाय ! हाय !! एक दिन रह गया, कोई समाचार नहीं मिला। यदि प्रभु नहीं आये, तो ये अभागे प्राण नहीं रहेंगे !"

अब कौन प्रेमी है ? कौन प्रेमास्पद है ? इसका पता प्रेम के साम्राज्य में है नहीं। जहाँ एक दो होते हैं वहाँ भक्ति रस है। जहाँ दो एक होते हैं वहाँ ज्ञान का रस है। रस ज्ञान में भा है। रस भक्ति में भी है। रस शान्ति में भी है। रस करुणा

में भी हैं। रस प्रसन्नता में भी है। किन्तु भक्ति में जो रस है वह कैसा रस है! उदाहरण लीजिये—किसी को बड़ी ही तीव्र प्यास लगी हो, अत्यन्त तीव्र प्यास लगी हो, और बड़ा ही मधुर-सुन्दर जल हो, शीतल जल हो, किन्तु प्यास कैसी हो? जो बुझे नहीं! जल कैसा हो? जो घटे नहीं! पेट कैसा हो? जो कि भरे नहीं! आप क्या कहेंगे? आप कहेंगे कि प्रत्येक घूंट पर नित-नव रस है। इस भक्ति का ऐसा ही अनुपम रस है। इसमें मिलन और वियोग कुछ अर्थ ही नहीं रखता। मिलन में कोई भक्ति की पूर्ति होती हो; वियोग में कोई भक्ति की क्षति होती हो—ऐसा नहीं है। यह तो नितनव रस है, अगाध रस है, अनन्त रस है। और उसकी प्राप्ति एकमात्र शरणागति से होती है।

आप कहेंगे, शरणागति क्या? विचार कीजिए। एक शरणागत भक्त की बात से आपको पता चल जायेगा। आपने सुना ही होगा कि श्री विभीषण जी ने अपने को अनाथ अनुभव किया। ऐसा अनुभव किया कि मेरा कोई है नहीं। अपने को असमर्थ अनुभव किया, समर्थ अनुभव नहीं किया। किन्तु आप जानते हैं, प्रभु ने किसी को अनाथ नहीं बनाया है। क्यों? जगत् का नाथ रहते हुए भला, कोई अनाथ हो सकता है! परन्तु जब मानव कहो या साधक कहो, मिले हुए विवेक का आदर नहीं करता, मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करता, अपितु दुरुपयोग कर बैठता है अथवा करने लगता हैं, तब वह अपने को असमर्थ पाता है। और उस असमर्थता की जब पीड़ा होती है तब अपने को अनाथ अनुभव करता है। इसी दशा में श्री विभीषण जी ने

श्री हनुमन्तलाल जी से जब भेंट हुई तब एक प्रश्न किया। और वह प्रश्न यह किया—"कहउ तात मोहि जानि अनाथा, करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा ? क्या मुझ अनाथ पर भी प्रभु कृपा करेंगे ?"

हनुमन्तलाल ने कहा—"क्यों अनाथ हो भैया तुम ?" तो अपना परिचय देते हैं, अपनी दशा बताते हैं—"तामस तन कछु साधन नाहीं, प्रीति न पद सरोज मन माँहीं। मैं कर्म का, ज्ञान का और प्रेम का अधिकारी नहीं हूँ। इसलिए मैं अनाथ हूँ।" हनुमन्तलाल जी ने सुना और कहा—"कहहु कवन मैं परम कुलीना ? मैं कौनसा परम कुलीन हूँ ?" अब अपनी दशा बताते हैं—"कपि चंचल सबही बिधि हीना।" यह अपनी असमर्थता का परिचय अपने दोषों का परिचय। आगे चलकर हनुमन्तलाल कहते हैं—"प्रात लेइ जो नाम हमारा, मिलै न ता दिन ताहि अहारा ! अस मैं अधम सखा सुन। हे सखा ! मैं ऐसा अधम हूँ। मोहू पै रघुवीर, कीन्हेहु कृपा सुमिरि गुण, भरे विलोचन नीर। "यहि कहत राम गुण ग्रामा, पावा अनिर्वाच्य विश्रामा !"

तात्पर्य क्या ?—अपनी असमर्थता से पीड़ित होना और उनकी महिमा में आस्था होना। जब श्री विभीषण जी ने सुना अपने हनुमन्तलाल जी कहो, चाहे उनके गुरुदेव कहो, गुरु से सुना कि प्रभु कृपा करते हैं गुरु ने यह नहीं कहा, कि तुम उनका नाम लेना, कि तुम उनका ध्यान करना, कि तुम उनका भजन करना। जैसा साधक का प्रश्न था वैसा ही गुरु का उत्तर था। उनमें सन्देह यह था, क्या मुझ अनाथ पर कृपा करेंगे ! उन्होंने कहा—"अनाथ पर कृपा करते हैं। प्रभु

अनाथ पर कृपा करते हैं । जो अपनी असमर्थता से पीड़ित है उस पर प्रभु कृपा करते है ।" आस्था हो गई ।

आस्था होने के बाद, आपने सुना ही होगा कि जिस समय श्री विभीषण जी श्री रघुनाथ जी से मिलने गये हैं तो उन्होंने यह परिचय नहीं दिया कि मैं इतना जप करके आया हूँ, कि इतनी देर ध्यान करके आया हूँ । बड़े सरल ढंग से कहा— "श्रवण सुजस सुनि आयहुँ । मैंने अपने कानों से आपकी महिमा को सुना ।" क्या सुना?—"प्रभु भंजन भव-भीर । प्रभु भय को हर लेते हैं, दु:ख को हर लेते हैं, यह सुन करके मैं आया हूँ ।"

सुग्रीव जी उनके सखा हैं, और उस समय के सेनापति हैं । सुग्रीव ने कहा कि प्रभु ! रावण का भाई आपसे मिलने आया है । प्रभु ने कहा "तो क्या करना चाहिए क्योंकि जिसको पद दिया प्रभु ने उसका परामर्श लिया । उसने कहा— "जानि न जाय निशाचर माया । न जाने, क्यों आया है ! उसको बाँध कर रख लिया जाय ।" रघुनाथजी अधीर हो गये । कहने लगे—"सखा नीति तुम नीकि विचारी । तुम्हारी बड़ी सुन्दर नीति है । पर क्या करूं ? मम प्रण शरणागत भय हारी । मेरा प्रण हैं कि मैं शरणागत के भय को हर लेता हूँ । और ये जो तुम कहते हो कि निशाचर बड़े ऐसे और ऐसे होते है ।"—प्रभु ने यह नहीं कहा कि मैं उनका नाश कर दूंगा प्रभु ने कहा—"उनके लिए लखनलाल पर्याप्त हैं ।"

भक्तों पर जब दु:ख होता है तब प्रभु कहते हैं—"सखा सोच त्याग बल मोरे ।" उनके ऊपर जब आपत्ति होती है तब प्रभु नहीं कहते । अर्थात् उनका ऐश्वर्य, प्रेमास्पद का

माधुर्य्य किसके लिए है ?—प्रेमियों के लिए है, भक्तों के लिए है। प्रभु ने अनेक बार कहा—"सखा सोच त्यागहु बल मोरे। तुम मेरे बल पर निश्चिन्त हो जाओ, निर्भय हो जाओ।" और जब उनकी अपनी व्यक्तिगत समस्या है, तब कहते कहते हैं—"भैया लखनलाल पर्याप्त हैं।" आप जानते हैं, हनुमानजी गद्गद् हो गये। क्योंकि गुरु जो होता है न ! वह प्रभु की महिमा से परिचित होता है, उसको जानता है। और शिष्य जो होता है, वह गुरु की बात को मानता है, जानता नहीं है। जैसे विभीषणजी ने इस बात को मान लिया था, श्री हनुमन्तलाल जी इस बात को जानते थे।

तो आते ही कह दिया—"आओ लंकेश !" लंका का राज्य दे दिया। किन्तु विभीषण बड़े संकोच में डूब गये, बड़े सकुचा गये। और कहने लगे—"उर कछु प्रथम वासना रही। पहले मेरे मन में वासना थी, किन्तु प्रभु पद प्रीति सरित सो वही।"

इससे क्या प्रकाश मिलता है ? कि "मैंने दोषाबस्था में आपकी शरणागति स्वीकार की। आप में आस्था की। निर्दोष होकर नहीं दोषयुक्त दशा में मैंने आस्था की।" यह असमर्थ साधक की बात है—आस्था। प्रभु ने कहा—"यद्यपि सखा तब इच्छा नाहीं। तुम विल्कुल ठीक कहते हो। मैं मानता हूँ कि तुझे इच्छा नहीं है। परन्तु मम दर्शन अमोघ जग माहीं।" क्या सार निकला ? कि जब मानव अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर प्रभु की महिमा में आस्था करके एक बार यह स्वीकार कर ले—"प्रभु मेरे हैं। मुझ पर कृपा करेंगे। वे कृपा करते हैं।" इस आस्था मात्र से ही शरणागति सिद्ध होती है। और शरणागत होने पर प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी होता है। यह भक्ति रस की महिमा है।

विवेचन

(द्वारा—भक्तिमती देवकी जी)

साधक के जीवन में प्राकृतिक नियम के अनुसार न तो 'न जानने' का दोष है और न जाने हुए के अनुरूप जीवन बनाने के लिए सामर्थ्य का अभाव ही है। अर्थात् साधन की मूल सामग्री तो साधक को प्राप्त ही है। उसके सदुपयोग न करने में साधक की ही असावधानी है, जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोष के मिटाने का दायित्व अपने पर ही है किसी और पर नहीं।

सभी दोष अविवेक के कार्य हैं। अविवेक केवल विवेक का अनादर है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेक के आदर में ही अविवेक का विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेक का आदर करने पर सीमित अहंभाव-रूपी अन्धकार जो अविवेक है, स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जिस भूमि में दोष निवास करते हैं, वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

यह नियम है कि 'करने' का अन्त होता है और उसके परिणाम का भी कालान्तर में नाश होता है। की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेने से भूल मिट जाती है। और कालान्तर में भूल का परिणाम भी मिट जाता है। मौलिक निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है।

हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्व में फैलता है। क्योंकि कर्म बिना संगठन के नहीं होता। अतः संगठन से उत्पन्न होने वाले कर्म का परिणाम व्यापक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से हम जो कुछ करे, वह इस उद्देश्य को सामने रख कर करना चाहिए कि 'हमारे द्वारा दूसरों का अहित तो नहीं हो रहा !' यदि हमारे द्वारा होने वाले कर्मों से दूसरों का अहित हो रहा है, तो हमारा भी अहित निश्चित है। अतः इस कर्म-विज्ञान की दृष्टि से हमें वह नहीं करना चहिए, जिसमें किसी अन्य का अहित हो। अपितु वह अवश्य करना चाहिये, जिसमें सभी का हित हो।

कर्त्तव्यपालन की कसौटी है कि फल की आशा स्वभाव से ही न रहे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कर्त्तव्यपालन का होना ही महान् फल है। क्योंकि कर्त्तव्यपालन के पश्चात् 'करने' का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। जब साधक जो कर सकता है, वह कर डालता है, तब क्या 'साध्य' को जो करना है, वह नहीं करेगा ? क्या 'साध्य' अपने कर्त्तव्य से च्युत हो सकता है ? कदापि नहीं। अपितु साध्य तो इतने उदार हैं कि साधक को भी 'करने' की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। जिस प्रकार माँ अपने शिशु के लिए स्वतः सब कुछ करती हैं, उसी प्रकार 'साध्य' साधक के लिए सब कुछ करते हैं।

समाज में कर्त्तव्यपरायणता फैलती है तो कर्त्तव्यपालन से फैलती है; उपदेश, आदेश, और सन्देश से नहीं फैलती। शासन का भय और प्रलोभन से भी कोई किसी को कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सकता। अपना कर्त्तव्य है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा की जाय।

कर्त्तव्यपरायणता वह विज्ञान है, जिसमें मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है। कारण कि कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान 'राग' की निवृत्ति में हेतु है। राग-रहित हुए बिना कोई भी मानव अपने विकास में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

कर्त्तव्यपालन का अर्थ कर्त्तव्य के अभिमान में, क्रिया-जनित सुख-लोलुपता में एवं फलासक्ति में आबद्ध होना नहीं है। ज्यों-ज्यों कर्त्तव्यपरायणता आती जाती है, त्यों-त्यों 'करने' का राग, पाने का लालच, जीने की आशा और मरने का भय स्वतः मिटता जाता है। सर्वांश में कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर मानव स्वतः अपने ही में अपने 'सर्वस्व' को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म आस्तिक की 'पूजा' अध्यात्मवादी का 'साधन' एवं भौतिकवादी की 'सेवा' है। 'सेवा' विश्व प्रेम में, 'साधन' असंगतापूर्वक विश्राम में और 'पूजा' प्रभु प्रेम में परिणत हो जाती है।

कर्त्तव्य पथ से भी मानव विश्राम प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य भी स्वतन्त्र पथ है। कर्त्तव्य की पूर्णता होने पर विश्राम तथा विश्व-प्रेम एवं अनेकता में एकता का साक्षात्कार बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वतः होता है। प्रेम का आरम्भ किसी भी प्रतीक में क्यों न हो, किन्तु 'प्रेम' स्वभाव से ही विभु हो जाता है। अतः विश्व-प्रेम भी विश्व से अतीत आत्मरति एवं प्रभु-प्रेम के रूप में परिणत होता है।

22-8-03
noted

॥ ॐ ॥

प्रार्थना

(२)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
मानव-मात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवम्
हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का नाश करें,
सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय ।

ॐ आनन्द !   ॐ आनन्द !!   ॐ आनन्द !!!